धर्म-शिक्षा.

लेखक,

न्यायविशारद-न्यायतीर्थ मुनि

श्री न्यायविजयजी.

वीर संवत् २४४१.

भावनगर आनंद प्रेसमा शाह गुलाबचंद लल्लुभाइए छाप्यु.

कीमत रु १-०-०

प्रकाशक,

आगरा निवासी श्रेष्ठिवर्य श्रीमान् लक्ष्मीचन्द्रजी वेद के
लघुकुमार श्रीयुत फूलचंदजी वेद.

समर्पण

श्रीमन्मान्यवर ज्येष्ठसहोदर भाईसाहब
अमरचन्द्रजी ! तथा मोहनलालजी !

आप साहबों का उदारभाव धर्मानुराग
गुरुभक्ति तथा भ्रातृवात्सल्य वगैरह
अनेक अनुकरणीय गुणोंसे
आकर्षित हुआ मैं आप-
श्री की सेवा में इस पु-
स्तकके समर्पने-
की रजा
लेता
हूं

आप का
फूलचंद

प्रकाशकमहाशयपरिचयः

१

"वेदो-पाधि फलोदिपत्तनभव श्रीलक्ष्मिचन्द्राभिध

ख्यातश्रेष्ठिवरस्य भान्ति विकसद्रूपाः कुमारास्त्रयः ।

तत्राऽऽद्योऽमरचन्द्र उच्चचरितः प्रल्हादकश्चन्द्रवन्-

मध्ये मोहनलाल उत्तममतिः सम्यग्गुणैर्मोहनः" ॥

२

" सुवासनां पुष्पत इन्दुतः पुनः

शैत्यं गृहीत्वो—भयरूपतां गतः

एकस्वरूपं दधतौ जयन्नमू

श्री पुष्पचन्द्रो (फूलचन्द्रो) ऽर्थवदाऽऽह्वयोऽन्तिमः" ॥

३

" एतेनैव कनीयसाऽपि वयसा द्राघीयसा प्रज्ञया

लब्ध्वा श्रेष्ठिनिदेशमग्रजयुगं संपृच्छ्य च स्वस्वतः ।

श्री सौराष्ट्रकराष्ट्र-भावनगरस्थाऽऽनन्दमुद्रालये

सम्मुद्राप्य महीतले प्रकटिता श्रीधर्मशिक्षे—यकम् " ॥

" पण्डितब्रह्मविहारीशर्मा "

शिक्षा-मुख.

संसारमें प्राणिओं को सुख देनेवाला एक धर्म है। अधर्मी आदमी का धर्म रहित जीवन किसी काम का नहीं। अधर्मी मनुष्य का मुर्दा जानवर तक को भी स्पृश्य नहीं होता, इसपर एक कविने कहा भी है—

"हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारश्रुतेद्रोहिणौ
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थं गतौ।
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गं शिरो
रे रे जम्बुक! मुञ्च मुञ्च सहसा निन्द्यस्य नीचं वपुः।१।

भावार्थ यह है कि किसी अधर्मी मनुष्य की लोथ का भक्षण करनेको उद्यत हुए गीदड को एक कवि समझा रहा है कि ऐ गीदड! इस निन्दनीय-पापात्मा मनुष्यके शरीर को छोड दे! इस का एक भी अंग-एक भी अवयव भक्षण करनेके योग्य नहीं है। अव्वल तो इसके हाथ दान रहित हैं। कान उत्तम शास्त्रके श्रवणसे दूर रहे हुए हैं। आँखें सन्त-महन्तोंके दर्शन नहीं पायी हुई हैं। पाँव कभी तीर्थ स्थानोंमें नहीं गये हैं। पेट कूटकपटसे पैदा किये पैसेसे भरा है। और मस्तक अभिमान करके ऊंचा ही रहा है-ऋषि-महर्षिको नमस्कार करने का लाभ नहीं उठा सका। बस! इस लिये यह लोथ भी तुझे अस्पृश्य है।

अनादिकाल से नदियों का पानी संग्रहता हुआ महासागर तृप्त न हुआ। अनादिकाल से महासमुद्र का पानी पीता हुआ वडवानल तृप्त न हुआ। बेशुमार लकडिओं के ढेर को भक्षण करता हुआ अग्नि आजतक संतुष्ट न हुई। और प्रतिक्षण असंख्य

शिक्षा-मुख.

संसारमें प्राणिओं को सुख देनेवाला एक धर्म है। अधर्मी आदमी का धर्म रहित जीवन किसी काम का नहीं। अधर्मी मनुष्य का मुर्दा जानवर तक को भी स्पृश्य नहीं होता, इसपर एक कविने कहा भी है—

" हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारश्रुतेर्द्रोहिणौ
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थं गतौ।
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गं शिरो
रे रे जम्बुक! मुञ्च मुञ्च सहसा निन्द्यस्य नीचं वपुः।१।

भावार्थ यह है कि किसी अधर्मी मनुष्य की लोथ का भक्षण करनेको उद्यत हुए गीदड को एक कवि समझा रहा है कि ऐ गीदड! इस निन्दनीय-पापात्मा मनुष्यके शरीर को छोड दे! इस का एक भी अंग-एक भी अवयव भक्षण करनेके योग्य नहीं है। अव्वल तो इसके हाथ दान रहित हैं। कान उत्तम शास्त्रके श्रवणसे दूर रहे हुए हैं। आँखें सन्त-महन्तोंके दर्शन नहीं पायी हुई हैं। पाँव कभी तीर्थ स्थानोंमें नहीं गये हैं। पेट कूटकपटसे पैदा किये पैसेसे भरा है। और मस्तक अभिमान करके ऊंचा ही रहा है-ऋषि-महर्षिको नमस्कार करने का लाभ नहीं उठा सका। बस! इस लिये यह लोथ भी तुझे अस्पृश्य है।

अनादिकाल से नदियों का पानी सग्रहता हुआ महासागर तृप्त न हुआ। अनादिकाल से महासमुद्र का पानी पीता हुआ बडवानल शान्त न हुआ। बेशुमार लकडिओं के ढेर को भक्षण करती हुई आग आजतक संतुष्ट न हुई। और प्रतिक्षण असंख्य

प्राणिओं को हुकमा बनाता हुआ काल–पिशाच कुछ भी ढीला न पडा । उसी प्रकार इस जीव को–अनादि काल से विषयानन्द भोगते हुए भी सन्तोषवृत्ति न मिली, अहा मोह ! बलिहारी है तेरी ।

मोहरूपी मदिरा के नशेमें बावले बने हुए अधर्मी–अविवेकी मनुष्य का जीवन–छाया रहित वृक्ष की भांति है । पानी रहित तालाब की तरह है । गन्धहीन पुष्प के समान है । बगैर दांत के हाथी के सदृश है । विना लावण्य के रूप जैसा है । मन्त्री रहित राज्यसा है । देवता रहित देवालय के तुल्य है । चारित्रभ्रष्ट साधु के सदृश है । चन्द्र शून्य रात्रि के समान है । हाथमें शस्त्र नहीं रक्खे हुए सैन्य की तरह है । और आंख विना के मुँह के बराबर है ।

चक्रवर्त्ती भी–धर्म का उपासक न हो तो ऐसा परलोक पाता है कि जहाँ निन्द्य भोजन को भी दिव्य अमृत मानना होता है । बडे कुलमें उपजा हुआ श्रीमान् श्रेष्ठिरत्न भी धर्मकी प्रसादी के नहीं पाने के कारण भवान्तरमें उच्छिष्ट भोजी कुत्ता होता है। ब्राह्मण वैश्य क्षत्रिय शुद्र कोई भी क्यों न हो, धर्म का तिरस्कार सब के लिये अनर्थ उपजानेवाला है । अधर्मी मनुष्यों को बिल्ली साँप शेर गिद्ध वगैरह दुर्गतियोंमें जाने की टिकट मिलती है । धर्महीन प्राणी विष्ठा वगैरहमें अनेकशः कीडे का जन्म पाते हैं, और मुरगे वगैरह की चोंच व पांव के प्रहार का लाभ उठाते हैं। पापिष्ठ–दुरात्मा मनुष्यों का भवान्तर गति के समय नरक की ओर प्रयाण होता है और परमाधार्मिकों के हाथोंसे बेशुमार दुःख उन्हें उठाना पडता है । पराधीन हो के प्राणी इतना कष्ट उठा लेते हैं, मगर स्वाधीन–स्वतन्त्र दशामें धर्मानुबन्धी (धर्म करने के प्रसंगमें) थोडा भी दुःख उठाना नहीं होता अफसोस ।

संसार में प्राणिओं को पोषण करनेवाली सच्ची माता धर्म है। जीवों को रक्षण करनेवाला वास्तविक पिता धर्म है। मिजाज को खुश रखनेवाला असल मित्र धर्म है। और पवित्र स्नेह-भाव से वर्त्तनेवाला एक बन्धु धर्म है। धर्म-सुख सम्पदा का अथाह भंडार है। धर्म रणयुद्ध में लोहे का बख्तर है। और धर्म बुरे कर्मों के मर्मको भेदनेवाला प्रतीक्ष्णशस्त्र है। धर्म के प्रसाद से प्राणी राजा होता है, सम्राट होता है, देवता होता है, देवेन्द्र होता है, अहमिन्द्र होता है आखिरमें ईश्वर भी हो जाता है।

धर्म के अचिन्त्य प्रभाव को, सब दर्शनों में-सभी मजहबों में सभी धर्माचार्य मुक्तकण्ठ से पुकार रहे हैं और धर्म का सामान्य स्वरूप—

"पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्* ॥१॥

(इस श्लोक में बताया हुआ) सभी महानुभावों को सम्मत है। वास्तवमें आत्म शुद्धि ही धर्म होनेपर भी उसके अहिंसादि साधनों को भी धर्म कहना कोई अनुचित नहीं है।

धर्म का सामान्य स्वरूप प्रायः सभी को विदित होगा। किन्तु यह मेरा प्रयास धर्म सम्बन्धी कुछ विशेष शिक्षा देने के लिये है, इसीसे इस पुस्तक का नाम भी "धर्मशिक्षा" रक्खा गया है। धर्म के विषयमें हजारों पुस्तकें विद्वानों के हाथ से लिखी गई हैं और नया तत्त्व-अपूर्व वार्त्ता कोई नहीं लिख सकता, तथा भी नये नये ढंग से उस उस समयपर लेखक लोग अपनी कलम चलाया ही करते हैं। किसी लेखक की किसी प्रकार की लेख पद्धति रहती है किसी की किसी चाल की। संक्षेप से विस्तार से

---

* १ अहिंसा, २ सत्य ३ चोरी नहीं करना ४ ब्रह्मचर्य ५ संतोष (त्यागवृत्ति) इन पांच नियमों को सभी धर्मचारियों ने पवित्र माना है।

मिश्ररूप से भिन्न भिन्न संकलना से विषय संयोग की विचित्रता से एक ही विषयपर हजारों लेखकों की हजारों तरह की जुदे जुदे ढंगवाली कलम चलती है। अनन्त वाङ्मय अनन्त शास्त्र ५२ ही वर्णोंपर पर्याप्त हैं तहां भी सब शास्त्र-सभी पुस्तकें परस्पर विलक्षण ही ढंगवाली हैं, कोई पुस्तक किसी पुस्तक से एकरूप नहीं होती। इस लिये यह संकोच नहीं रखना चाहिए कि " पुस्तकों का ढेर पडा है, पहले जमानेके विद्वान् लोग बहुत ग्रन्थ लिख छोड गये हैं, नई पुस्तक से क्या प्रयोजन है ?"। किन्तु "शुभे यथाशक्ति यतनीयम् " (शुभ काममें यथाशक्ति उद्यम करना चाहिए) इस सुभाषित के अनुसार यथाबुद्धि-यथाशक्ति लोकोपकारक योग्य लेखनी अवश्य चलानी चाहिए। ज्यों ज्यों स्मारक वस्तुएँ ज्यादह बढेंगी त्यों त्यों जनसमाज को कर्त्तव्यों की ओर संस्कार दृढ होगा, स्मरण बार बार जागता रहेगा।

धर्म सम्बन्धी शिक्षामें बहुत वक्तव्य भरे हैं। इतनी छोटी सी पुस्तक में सब वक्तव्यों का निवेदन नहीं आ सकता। इस पुस्तक में मेरे अल्प ज्ञानानुसार मैंने अभी बिन्दुमात्र ही कहा है। खास खास विषय ऐसे बहुत से हैं कि जिनका स्पर्श भी यहां नहीं किया गया है और अवश्य विवेचन करने योग्य हैं। मैं पहले इस पुस्तक को बहुत ही छोटी रखना चाहता था मगर वक्तव्योंने ज्यों ज्यों मुझे घेर लिया त्यों त्यों लाचार होके कुछ कुछ बढाता रहा, आखिर में प्रकाशक महाशय की प्रेरणा से यहांतक बढा के विराम लेना पडा।

इस पुस्तक में जितनी बातें बताई गई हैं उनका अनुक्रम आगे धरा है। इसी ग्रन्थमें से कुछ हिस्सा ले के " गृहस्थधर्म " पुस्तक का निर्माण हुआ है।

"धर्मशिक्षा" का जन्म किशनगढ-राजपुताने में हुआ है।

विक्रम स-१९६९ की सालमें जब मै किशनगढ में चौमासा रहा था उस समय आगरा निवासी श्रीयान श्रेष्ठिवर्य महानुभाव लक्ष्मी चदजी वेद के पुत्ररत्न श्रीयुत अमरचंदजी श्रीमान् मोहनलालजी तथा श्रीमान फुलचदजी किशनगढ आये थे । उस वक्त श्रीमान फूलचंदजी ने मुझे अपना यह विचार दर्शाया कि " कोई धर्म विषयक अच्छी पुस्तक हिन्दी में लिखनी चाहिए कि जिससे इस प्रान्तवाले लोगों को लाभ मिल सके " । और पुस्तक लिखनेका साग्रह निवेदन किया । इन्हीं के निवेदन से इस पुस्तकका निर्माण हुआ है ।

इस पुस्तक के लिखते वक्त न मेरे मनमें कोई द्वेषभाव की परिणति थी और न मैं ऐसी क्षुद्र वृत्ति रखना पसद करता हूँ, तथापि राभस वृत्ति से मेरा औद्धत्य कहीं इसमें प्रतीत होता हो तो क्षमा करें ।

" लेखक "

विषयानुक्रम

धर्म शिक्षा.

अर्हम् ।

नमः शास्त्रविशारद—जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिभ्यः ।

धर्मशिक्षा.

प्रणम्य परमात्मानं धर्माचार्यान्गुरूंस्तथा ।
भव्यानामुपकाराय धर्मशिक्षा विधीयते ॥ १ ॥

यह तो सुविदित ही है कि समस्त जीवयोनिमें मनुष्यत्व जाति, परमपदप्राप्तिका परम मार्ग है। समस्तप्रकारसे विज्ञान सामग्री वा धर्मसामग्री मनुष्यही को प्राप्त होसकती है। अतएव शास्त्रकारों ने मोक्षप्राप्तिका परम साधनभूत मनुष्य जन्मको देवत्वसे भी अधिक श्रेष्ठ बताया है। क्योंकि देवलोगों-को स्वर्गसुख—रमणमें आसक्ति होने से तपश्चरणादिका उदय नहीं होता है, और विना तपश्चरणादि, समस्त कर्मक्षय स्वरूप मोक्ष नहीं मिलसकता। इस लिये इस मनुष्यत्व जातिको प्राप्त करके बु-द्धिमान् विवेकी पुरुषोंको धर्मका आदर करना परमावश्यक है। लेकिन अफसोस है कि आजकल नवीन धर्मोंका प्रचार उत्पन्न होता हुआ बहुत दीख पड़ता है। परस्पर विरोधि धर्मोंकी धारा, अल्प

मति भोले लोगों के हृदयमें ऐसा प्रहार करती है कि विचारे खडे भी नहीं होसकते, यानि धर्मका रास्ता नहीं सूझनेके कारण आस्तिक्य गुणसे परिभ्रष्ट हो जाते हैं; यह तो मेरा कहना होही नहीं सकता कि समस्त भूमंडल एकही धर्ममें आ जाय। एक धर्ममें यह जगत् कभी उपस्थित न हुआ न होगा, वरना एक ही सत्य धर्मसे सर्व जगत्का निस्तार होने पर दुर्गति के द्वारको अर्गलाही देनी पडेगी, यानि नरकादि दुर्गति शून्य हो जावेगी। इसलिये सच्चा और मिथ्या धर्म अनादि कालसे चला आरहा है, इसमें कौन क्या कहेगा? लेकिन वर्त्तमान हवासे मालूम पडता है कि नवीन २ मजहब निकालनेमें लोगोंको बहुत शौक हो गया है। हमभी थोडा कुछ टट्टु चला करके इज्जत उठावें, ऐसा समझ कर उटपटांग प्रलापों की पोथी थोथी बनाके प्रजामें प्रवाहित कर देते हैं। परन्तु समझना चाहिये कि यदि सच्ची इज्जतकी गटडी उठानी हो तो परमात्मा के सत्यधर्ममें आरूढ हो कर के पवित्र आचार तपश्चरणादि द्वारा दुष्ट कर्मों को क्षीण करें और इसीसे अपरिमित-अद्भूत-अविनाशी-लोकोत्तर आनन्द प्राप्त करें, शारदपूर्णिमा चन्द्रकी किरण सहोदर चमकीली विश्वव्यापी यशोदेवीकी वरमालाभी पहिनें। स्वकपोल कल्पित असत्य मत फैलानेसे फायदा होना तो दूर रहा, किन्तु एकान्त पापोंकी गठडी उठानी पडती है और भवाटवीमें चिरतरकाल परिभ्रमण करना पडता है।

कोईभी स्वाभिप्राय प्रकाश करने के पहिले सोचो! कि यह अभिप्राय सिद्धान्तानुकूल है वा विपरीत है। पूर्व ऋषि वा प्राचीन विद्वानों के आगे हम लोगोंकी कौन बुद्धि? हम क्या कोई नया तत्त्व निकाल सकते हैं? अलबत्ते! समस्त शास्त्रोंकी मीमांसा

रहित कहा जा सकता है, जो कि सर्वज्ञने प्रकाशित किया है। ऐसा सनातन धर्म बाप दादाओंसे अनादृत ही क्यों न हुआ हो? मगर बुद्धिमान् लोग उसकी अन्वेषणामें कटिबद्ध रहते हैं। जब यह बात निश्चित है कि मोक्षका मार्ग एकही है। क्योंकि विरुद्ध कारणोंसे एक कार्य कभी उत्पन्न नहीं होता है। जैसे घटकी उत्पत्ति मृत्तिकासेही होती है, न कि तन्तुओंसे, तो मोक्ष प्रदाता मार्गभी परस्पर विरोधि कैसे होंगे? इसलिये परीक्षाको सहन करनेवाला, सर्वज्ञदेव भाषित एक ही धर्म—मार्ग मोक्षसाधक होसकता है। अतः बुद्धिमानोंको चाहिये कि सत्यासत्य धर्मरुप रत्न कांचोंके पुंजमेंसे दृढ परीक्षाद्वारा सत्य धर्मरूपी रत्न उठालेवें। कांचमें रत्नका भ्रम न रक्खें। किंतु यह बात तबही होगी जबकि कुल परंपरासे आये हुए धर्मका कदाग्रह रफा होजायगा। कुल परंपराप्राप्त धर्म सत्यही क्यों न हो? लेकिन उस सत्य धर्ममें सत्यत्वका परिचय होनेपर उस सत्य धर्मका पक्षपाती बनना समुचित है। क्योंकि सम्यग् ज्ञानपूर्वक श्रद्धा करना यही मोक्षका परम साधन सभी शास्त्रकारोंकी उक्तियों से निकलता है।

इस कलिकालमें पूर्व महात्माओंकी तरह सूक्ष्मतर प्रज्ञा यद्यपि दुर्लभ होगई है. तथापि मध्यस्थ पुरुषकी बुद्धिमत्ता धर्मकी परीक्षा करती हुइ परमार्थ सत्यही धर्ममें विश्रान्ति लैती है इसमें कोई सन्देह नहीं, मगर मूर्ख पुरुष और कदाग्रही पंडितके लिये तो धर्मकी दुर्लभता शास्त्रकारोंने बताई है, बातभी सच्ची है, क्योंकि धर्म जैसी परम वस्तु समस्त जगत् को यदि प्राप्त होजाय तो जगत् दरिद्रही कैसे रहेगा? पंडितभी क्यों न हो मगर वह यदि हीनभाग्य होगा तो जरूर कदाग्रह रूप सर्प उसके मनोमंदिरमें घुसकर और विवेकरुपी दूध एकदम पी

करके दुर्बुद्धिरूप विष फैला देगा । पाठकवर ! आप समझगये होंगे कि धर्म एक मामूली चीज नहीं। धर्मराजाके प्रभावसे लोग परमानन्दी बनजाते हैं। इस संसार चक्रमें भ्रमण करते हुए प्राणीको सर्व प्रकारकी संपत्ति प्राप्त हो चुकी, परंतु सत्य धर्मके दरवाजेमें प्रवेश नहीं हुआ। जिसके जरियेसे जीवको दारिद्य नदीमें अभीतक डुबकी मारनी पडती है। अगर सत्यधर्मकी सेवा मिली होती तो हर्गिज आजतक इतनी विपत्ति नहीं उठानी पडती। धर्म एक भव रोगको मिटानेका परम औषध है। धर्म एक भवक्लेशकी हत्या करनेमें बडा शूरवीर है। अब समझिये कि सत्य धर्म कहा ? और हम कहा ?। दुनियामें हजारों धर्म जलबुद्बुदके बराबर पैदा होते हैं और जलबुद्बुदके बराबर मलीन होजाते हैं। और पंडिताभास मिथ्याभिमानी लोग एक नया समाज खडा करके विनाकीटाग तोडनेको प्रयत्नशील होते है। मगर वे लोग यह नहीं जानते है कि क्षणिक संसारसुख क्षणविनाशी है, और झूठी इज्जतके पीछे जूता खाना पडता है। सत्य मुनियोंकी श्रुतियोके सत्य अर्थको छुपाकर कदाग्रह से असत्य अर्थको फैलानेमें अल्पज्ञ समाज अपनेको बहादुर समझती है। मगर श्रुति विरोधि सूत्रविरोधि अर्थ प्ररूपणा के दुरंत परिणामको अपने ख्यालमे नहीं लाते है ? कैसे लावे ? मतलबी पुरुष हमेशा अपने मतलबमें ही गुम रहेते ह.

दुनियामें जितने धर्म प्रचलित हो रहे हैं वे सब धर्म परस्पर विरोधी होकर अन्यके खडनके साथ अपनी जग कीर्तिका ढढोरा पिटवाते हे। क्या उन धर्मोको निकालने वाले सब सर्वज्ञ है ? सर्वदर्शी है ? अगर सर्वज्ञ नही है तो फिर स्वकल्पित बातोंको प्रचलित करने मे उन्मत्त होना बिलकुल अज्ञानता ही है न ? जो जो नये नये विचार तरग

उत्पन्न होवे उन सबको अपनी आत्मा में रखना चाहिये। पूर्ण चिन्ता करके युक्त मालूम होने पर उनको जाहिरमें लाना मुनासिब है, छद्मस्थों को सहस्रशः भ्रम हो जाता है। विचारना चाहिये कि यदि भ्रम से असत्यवस्तुको सत्य मानकर प्रचलित करेंगे तो वहुत संसारकी वृद्धि होगी। और ऐसे भवभीरु होना यह आत्माका प्रथम गुण है। जो शख्स नये मत निकालने में अपनी पूजा समझता है वह धर्मका परमशत्रु है। क्योंकि नया धर्म कोई नहीं निकाल सकता। सर्वज्ञ सर्वदर्शीभी पूर्व प्रसिद्ध ही धर्ममार्गको प्रकाशित करते हैं, जैसे जीव अनादि है, मोक्ष अनादि है, वैसे धर्मभी अनादि है। धर्मका अपूर्व प्रादुर्भाव यदि माना जाय तो मोक्ष प्रवाह अनादि नहीं हो सकेगा, क्योंकि धर्मके अपूर्व प्रादुर्भाव समय के पहिले धर्मका अभाव होनेसे निष्कारण मोक्ष रूप फल नहीं वन सकता। अतः धर्म ओर मोक्षका प्रवाह अनादि कालसे चला आरहाहै.। अलवत्ते क्वचित् क्षेत्रादि दोषोंसे धर्मका अभाव होसकता है। मगर धर्मका अपूर्व प्रादुर्भाव होना सर्वथा असंभव है। जब यह बात निश्चित हो गई, तो फिर नया मत खडाकर देना यह अव्वल पाखंड नहीं तो दूसरा क्या ? पाखंडि लोग अपना पाखंड फैलाकर दुनियाको ठगते हैं. असत्य उपदेश देकर प्रजाको दुर्गतिमें गिराते हैं और

॥ स्वयं नष्टा दुरात्मानो नाशयन्ति परानपि ॥

इसन्यायको चरितार्थ करते हैं। यदि कहा जाय कि हम नया मत नहीं निकालते हैं किन्तु शास्त्रोंका परमार्थ वताकर प्रजाको तत्त्वज्ञानिनी वनानेकी कोशिश करते हैं, तो ये सबवातें झूठ हैं। शास्त्रोंका परमार्थ निकालना वडी विद्वत्ताका काम है। अज्ञा-

नियोंको शास्त्रका पता नहीं मालूम पडता है। और सच्चे ज्ञानि लोग तो धर्म नायक पनेके अनुचित घमंडसे हमेशा न्हारही रहते है। वास्तवमें तो जबतक निमलभक्त गुरुके वचनों के ऊपर हृदय विश्वासी रहेगा, और असबद्ध प्रलापोंसे गुरु वचनोंको सत्य सिद्ध करनेका हठ दूर न होगा, तबतक यही दृष्टिरागरूप प्रलयवायु तत्त्वज्ञानरूप अमृत वृष्टिका जन्म न होने देगा। अतः दृष्टिरागको जलाजलि देकर शास्त्रोंकी परीक्षा माध्यस्थ्यसे करनी चाहिये। और न्यायनरेशकी आज्ञाको हमेशा उठानेवाले सिद्धान्तोंको अपना उपादेय समझना चाहिये।

जिज्ञासु——

> "षण्णां विरोधोऽपि च दर्शनानां
> तथैव तेषा ज्ञातशश्च भेदा.।
> नानापथे सर्वजनः प्रवृत्तः
> को लोकमारा धयितु समर्थः ?" ॥१॥

बौद्ध—नैयायिक—सांख्य—जैन—वैशेषिक—जैमिनीय ये छ दर्शन है। और वे परस्पर विरोध रखते है। और प्रत्येक दर्शनमें से सैकडों फांटे निकले हुवे दिखाइ देते है। समस्त प्रजा भिन्न भिन्न मार्ग में प्रवृत्त हो रही है। अब जनसमाजको कौन उपदेश-द्वारा आराधित करसकता है। बस ! इस कारण से लोगो का चित्त धर्म के विषयमें विव्हल रहा करता है, कि कर्त्तव्यतामूढ बना रहता है। तो क्या परमार्थ से कोइ सत्य धर्म होगा ही नहीं कि जिससे ससारका क्लेश नष्ट होसके ?

ज्ञानी–हे देवानुप्रिय! आपकी जिज्ञासा प्रशंसनीय है। सचमुच उक्त छ दर्शन परस्पर विरोध रखते हैं

तथाहि–

नैयायिक तथा वैशेपिक दर्शनका तंत्र परस्पर बहुत समान होनेपर भी अवान्तर विरोध उन्होंके शास्त्रोंमें प्रकट दीख पडते हैं। अव्वल तो प्रमाणकी व्यवस्थामें उन दोनोंका विरोध है। नैयायिकोंने प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द इन चार प्रमाणोंको स्वीकारा, तब वैशेपिकोंने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दोही प्रमाण माने। उसी प्रकारसे पदार्थ व्यवस्थामें भी प्रकट ही विरोध है। सांख्यकी प्रक्रिया उन्होंसे बिलकुल विपरीत है। जब वैशेपिकोंने पृथ्वी–जल–तेज–वायुः–और आकाशका क्रमसे गन्ध–रस–रूप–स्पर्श और-शब्दको गुण माना, तब सांख्याचार्यों ने गन्ध–रस–रूप–स्पर्श–शब्दोंकी तन्मात्राओंसे पृथ्वी–जल–तेज–वायुः–और आकाशकी उत्पत्ति स्वीकारी। देखिये! पाठकगण! है न पहाड जितना विरोध?। औरभी सुनिये! जगत्की उत्पत्तिका निमित्त कारण ईश्वर है ऐसा वैशेपिकोंने कहा, तब सांख्य प्रवचनमें ईश्वर मानाही नहीं, किन्तु सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक प्रकृतिका संक्षोभ होने पर जगत्की व्यवस्था मानी।

अब जैमिनीय दर्शनमें गौर कियाजाय तो वहांभी बडीही विलक्षणता दिखाई देती है। पहिले तो जैमिनीय दर्शनमें सर्वज्ञ ही नहीं माना है। जैमिनीयका दूसरा नाम मीमांसक है। मीमांसक दो प्रकारका है, एक पूर्व मीमांसक और दूसरा उत्तर मीमांसक। पूर्व मीमांसक प्राधान्येन क्रियाकांडी है। और उत्तर मीमांसक वेदान्ती है। वेदान्ति लोगोंने एक सत्य ब्रह्महीको माना और

संसारके सब पदार्थोंको झूठा कहाहै। इस प्रकार जैमिनीय दर्शन भी एक विलक्षणेही है।

पाठक मित्रो! देखो! वेदकी विचित्र लीला। एक ही वेदमेंसे निकलेहुए ये चार दर्शन कितने झगडे बखेडेमें गिरे हैं। परस्पर लडते हुए उन्होंने क्या वेदकी निन्दा नहीं की?, जब वे दर्शन परस्पर प्रतिरोधी हो कर स्वाभिप्रायानु रुप वेदपदोंको लगाकर अन्यदर्शनके ऊपर आक्षेप करते हैं, तब जरूर एक एक दर्शनकी अपेक्षा दूसरे दर्शन वेद निन्दक ठहरते हैं। बस! " नास्तिको वेदनिन्दकः " यह उन्हीके घरका कुठार परस्पर लडते हुए उन्हीं के ऊपर ही आ कर गिरा। अहो! कैसा कलह केलीका दुरत परिणाम?। अस्तु। अब बौद्धों की तरफ नजर की जाय तो, बौद्ध लोग वेदोंसे विपक्षी होकर एक और ही अपनी सृष्टि बताते है।

तथाहि—

बौद्धकी चार शाखाए हैं। वैभाषिक १ सौत्रान्तिक २ योगाचार ३ और मा-यमिक ४।

उनमें वैभाषिकोंने चौथे क्षणमें वस्तुका नष्ट होना माना है। और सौत्रान्तिकोंने आत्माको नहीं माना, किंतु रूप-वेदना-विज्ञान संज्ञा-और सस्कार इन पाच स्कधोंको परलोकगामी स्वीकारा है। और सौत्रान्तिकों के अभिप्रायसे सब बाह्य वस्तु अप्रत्यक्ष हैं। किंतु ज्ञानाकारद्वारा बाह्य वस्तुओंका अनुमान होता है, और सब वस्तु क्षणिक हैं। योगाचार बौद्धों के हिसाबसे विज्ञान मात्र ही जगत् है। बाह्य वस्तु शशशृग के बराबर हैं। माध्यमिकों के विचारसे सर्व शून्य है। देखिये महाशय वृन्द! दर्शनोंमें कितना विरोध? कितनी परस्पर भिन्न भिन्न मान्यता?

जैन दर्शनभी उक्त पांच दर्शनोंसे अलग ही वस्तुका स्वरूप बता रहा है।

अब कहां रही धर्म पद्धति ?। क्योंकर अल्प मति लोगोंका चित्त धर्ममें सन्देहाकुल न होवे ?।

अहो! मल्लमतिमल्ल न्यायेन कैसा दर्शनोंका गभीर झगडा ?। न जाने एक ही वेद पर भक्ति रखनेवाले विद्वानोंकी इतनी विमतिपत्ति क्यों चली ?। गौतम-कापिल-कणाद-जैमिनी आदि ऋषियों के अभिप्राय परस्पर विरोधी क्यों हुए ?। मालूम तो यही होता है कि वे सब ऋषिलोग पूर्णज्ञानी नहीं थे। जैसे जैसे विचार पैदा होते थे वैसे वैसे विचारोंको वे लोग लिख देते थे। बात भी ठीक ही है। विना सम्यक्ज्ञान ऋषियोंको भी भ्रम रहा ही करता है।

पाठकवृन्द! सूक्ष्म दृष्टिसे अगर गौर कियाजाय तो गौतमादि मुनि प्रणीत एक एक दर्शनमें भी आचार्योंके परस्पर मन्तव्यविरोध दिखाई देंगे। देखिये! नैयायिकोंका सिद्धांत, वात्स्यायनादि ऋषियों के अभिप्रायसे ज्ञानसुखादि रहितही मोक्ष है, और श्रीभासर्वज्ञने मोक्षमें नित्य सुखको स्वीकारा है। इसी रीतिसे प्रमाणचर्चामें भी परस्पर बहुत विरोध दिखाई देते हैं। परंतु लेख गौरवका भय रहनेसे इस बातको यहां विस्तरतः कहना उचित नहीं समझता हूं। इसी प्रकार सांख्यादि दर्शनोंमें भी परस्पर विरोध सुलभ ही हैं।

वाचकगण! ध्यान दीजिये कि गोतमादि मुनियों को न्यायादि सूत्र कहांसे मिले ?। यदि उन्होंने स्वमनसे सूत्र बनाकर प्रकाशित किये, तबतो उनमें विश्वास कैसे होगा ?। प्रामाणिक लोग उनको प्रमाणरूपसे कैसे ग्रहण करेंगे? क्योंकि अपूर्णज्ञानी को सहज भ्रम अवश्य रहा करता है। अगर कहा जाय कि पहिले के

न्यायसूत्रोंको देखकर उनके आधारसे गोतमादि ऋषियोंने न्याया-दि सूत्रोंकी रचना की । तो कहना चाहिये कि पहिलेके सूत्रोंका कर्त्ता कौन? यदि खुद ईश्वरही कहोगे? तब सोचो! एकही ईश्वरने गौतम और कणादादि ऋषियोंको परस्पर विरोधी सूत्र क्यों दिये? क्या प्रजाके चित्तको भ्रमित करना ईश्वर चाहता था? यदि ऐसी ही बात हो तबतो आपका ईश्वर बडाही दयालु ठहरेगा।

वाहजी वाह मित्र! कैसी ईश्वरकी दया,? जिसको अपनी प्रजाके ऊपरभी अहित करनेमें संकोच नहीं आया।

हम नहीं समझते है कि सब ऋषि लोगोको एक ही सत्य धर्म प्रतिपादक सूत्र देनेमें ईश्वरका क्या बिगडता था? प्र-त्युत प्रजा धर्म विषयक सन्देह पीडासे पीडित नहीं होती, सत्य ध र्मकी आराधना करके परमानन्दरूप बन जाती, यही ईश्वरको बडा फायदा होता। अगर वेदका अवलंबन लेकर सूत्रोंकी रचना करने-में आई, तो फिर वही पुनरुक्त करना पडता है कि ऋषि लोगोंको वेदका पूर्ण ज्ञान नहीं था! वरना परस्पर विरोधी विषयोंकी चर्चा नहीं होती। सनातनी लोग यह तो कहते ही नहीं कि यह अमुक ही ऋषि सत्य है उसीका सिद्धान्त उपादेय है, किन्तु सब ऋषि लोगोंको एक सरिखे सत्कारमें लाते है।

क्या वाचक वर्ग! परस्पर विरोधी सिद्धान्तवाले सब ऋषिलोग माननीय हो सकते है? हर्गिज नहीं।

दरअसलमें गौतमादि ऋषियोंके कई कई सिद्धान्त प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित होनेसे उनमेंसे कोई भी ऋषि पूर्ण वेदज्ञानी नहीं था।

वस्तुतः ऐसे कुढग वेदकी रचना करनेवाला कौन? यही बडा भारी प्रश्न उठता है, अगर ईश्वरको वेद कर्त्ता कहोगे, तब तो

ईश्वरने ऐसा कुढंग वेद क्यों बनाया? कि जिसमें ऋषिलोग व्यामूढ बन गये। ईश्वरने ऐसा वेद क्यों न बनाया यानि वेदकी ऐसी स्पष्ट रचना क्यों न की जिससे ईश्वरभक्त सब ऋषियोंको वेदमेंसे एकही सत्य तत्त्व मिल जाता। और भी समझना चाहिये कि वडे वडे ऋषि लोगोंकी परस्पर विप्रतिपत्ति होने के समयपर खुद ईश्वरने आकर उन विप्रतिपत्तियों (मतभेदों) का समाधान क्यों न किया, अन्यथा वेद रचनाकी क्या जरुरत? क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वरको पहिले मालूम ही होगा कि ये लोग मेरे बनाये हुए वेदको यथार्थ रीतिसे नहीं समझेंगे। और वेदके भिन्न २ आशयों को लेकर ऋषिलोग कलह केलीमें फँस जायंगे और प्रजाको सत्यधर्मका श्रद्धान नहीं होगा। ऐसे जानते हुवे भी ईश्वरने जो वेदकी रचनाकी तो यह प्रथम विफल (फजूल) कार्य करण दूषण ईश्वरको आया। असलमें वेद श्रुतियोंका अवलंबन लेकर पाखंडी लोगोंने वहुत अकृत्य काम फैलाया, और कृत्य काम के ऊपर खड्ग फैंका। और भोले लोग वेदके नाममें मोहित होकर वेदको परम सबूत समझ कर हिंसादि कर्ममें फंसने लगे। और संसार विषयानन्दी मतलवी लोगोंने वेदका वहाना लेकर अपनी पूजा तथा अधर्म वृद्धि चलाई। वाचकवर्ग! इन सब पापोंका निमित्त कारण वेदकर्त्ता ईश्वर ही होगा। यह दूसरा वज्र कठिन दोष ईश्वर के ऊपर आया। क्या इन सब भांति परिणामोंको ईश्वर नहीं जानता था? अगर जानता था तो फिर वेदकी रचना क्यों की? वेदकी रचनासे क्या नतीजा ईश्वरने निकाला?। अगर नहीं जानता था तो फिर ईश्वर ही कहां रहा? क्योंकि सर्वज्ञता ही ईश्वरका परम स्वरूप है।

पाठक महाशय! वेदकर्त्ता ईश्वर कैसा बहादुर? धर्मको फैलानेके लिये ईश्वरने वेद बनाया और फैल गया अधर्म।

वाह जी वाह ! ईश्वरकी कैसी दीर्घदर्शिता। धन्य है ऐसे ईश्वरको जिसका मनोरथ कुछ था और परिणाम कुछ निकला कि जिस वेदका पुच्छ पकड कर सैकडों धर्म वर्त्तमानकालमें चले जा रहे हैं। बन्धुओ ! समझिये, ईश्वरको यदि सत्य धर्म चलाना था तो सब ऋषि लोगोंको एक ही सत्य धर्मकी श्रुतियां देनी थी जिससे भिन्न भिन्न दर्शनोंकी धारा निकलकर प्रजाको क्लेशित नहीं बनाती। खैर! इस वख्तभी ईश्वरको क्या निद्रा आई है, इस वख्तभी ईश्वर खडा होकर पाखडी लोगोंको शिक्षा देकर वेदका परमार्थ प्रकाश क्यों नहीं करता है? । अगर कहा जाय कि इस वख्त कलियुग होनेसे ईश्वर खडा नहीं हो सकता है तो क्या कलियुग ईश्वरकी क्रियाको भी रोक सकता है? यदि ईश्वरकी क्रिया को भी कलियुग रोकेगा तो ईश्वर शक्तिहीन ही कहा जायगा। यदि कलियुग ईश्वरके ऊपर कुछ नहीं कर सकता है, तो फिर ईश्वर क्यों सत्य धर्मका प्रकाश करनेमें विलम्ब करता है। दयालु ईश्वर यदि सर्व शक्तिमान् है तो जब चाहे तब प्रजाके ऊपर दया कर सकता है। सुयुगमें तो प्रायः बुद्धिमती सुशीला प्रजा होती है उस समयमें प्रजाके ऊपर दया करनेका परिश्रम उठाना ईश्वरको अत्यावश्यक नहीं है। किन्तु दया करनेकी अत्यावश्यकता इस कलियुगमें ही है। ऐसे समयमें दयालु देवकी दया प्रजाके ऊपर यदि न बने तो फिर वह दयालु कैसे कहा जायगा? । क्षुधा के समय पर भोजन दाता दाता कहलाता है, परिपूर्ण पेट होने पर अमृत दाताभी सत्कार पात्र नहीं होता है। तात्त्विक दृष्टिसे मीमांसा करने पर वेद न तो ईश्वर रचित मालूम पडते है और न प्राज्ञ मुनीश्वर रचित मालूम पडते है क्योंकि वेद श्रुतियोंमें बहुत विरोध दृष्टिगोचर होते हैं। अत एव समझना चाहिये कि मूल (वेद) जब अशुद्ध है तो वेदोंके आधारसे निकले हुए गौतम

वेदान्तादि दर्शन शास्त्र भी अशुद्ध क्यों नहीं होंगे, क्या मूल अशुद्ध होनेसे शाखा अशुद्ध नहीं होगी ?। अव्वल तो वेदमें भरी हुई हिंसा ही वेदकी अपवित्रता वता रही है। जिसने वेदको तत्त्व दृष्टिसे देखा होगा वह पुरुष कदापि वेदको शुद्ध नहीं कहेगा।

लीजिये ! वेदकी खुशवू—

छागादीनां वधः स्वर्ग्यः । पापघ्नो गोस्पर्शः। द्रुमाणां पूजा । ब्राह्मणपूजनम् । पितृप्रीणनम् । वन्हो हुतं देवप्रीतिप्रदम् । इत्यादि

अर्थ—छाग (वकरा) आदि पशुओंका वध करना स्वर्ग के लिये है। गो (गाय) का स्पर्श पाप नाशक होता है। वृक्षोंकी पूजा करनी चाहिये। ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये। पितृ लोगोंको तर्पण करना चाहिये। अग्निमें द्रव्यका होम करना देवोंकी प्रीतिके लिये होता है। इत्यादि।

ऐसे ऐसे असंवद्ध वाक्योंसे भरे हुए वेदको कौन पंडित पुरुष प्रामाणिक मान सकता है? क्यों कि प्राणी की हिंसा करना सर्वथा अधर्म है तो फिर पशु हिंसा को धर्म वताने वाला वेद दयालु महात्मासे वना हुआ कौन स्वीकारेगा ?। पशुओंकी हत्या करना—वुरी हालतसे पशुओंकी जान निकालना और दया धर्मका दावा करना यह वात कैसे हो सकेगी ?। सर्व प्राणीयोंके प्राण एक समान हैं यानि सव जीवोंको सुख प्रिय होता है और दुःख अप्रिय होता है फिर भी जीवोंका संहार करना इसको धर्म कौन मानेगा। अव्वल ईश्वरकी पूजा जीवोंकी रक्षा करनी ही है। जीवोंकी हिंसा किसी भी प्रकारकी वेदकार वतलाता हो लेकिन सर्व प्रकारेण पशु हत्या करना कुकर्म ही है।

अब दूसरे वाक्य पर आईये ! गायका स्पर्श करनेसे पापका नाश कैसे होगा ? गायके स्पर्शसे पाप के ध्वंसको माननेवाले वेदकारने रासभ के स्पर्शको पापघातक क्यों न कहा ? क्या रासभकी तरह गौ पशु नहीं है ? और पशु क्या मनुष्यसे अधिक अधिकार रखता है ? यदि पशु मनुष्यसे अधम ही है तो फिर गौ का स्पर्श पापघातक कैसे होगा ?

अरे भोले वेदभक्तो ! थोडा तो नजर खोलो ! क्या गौ ससार चक्रमें भ्रमण नहीं करती है ? ! क्या गौ विष्टादिक मलिन चीजोंको नहीं खाती है ? क्या गौ के बदन पर दंड प्रहार नहीं होता है ? क्या गौ दुःखसे पुकार नहीं करती है ? क्या गौ को गोपालकी आज्ञामें नहीं रहना पडता है ? क्या गौके स्तनमेंसे लोग दूध नहीं निकाल लेते हैं ! क्या गौ दूसरे जीवोंको नहीं सताती है ? क्या गौ का मरण नहीं होता है । जब ऐसी क्षुद्रता गौमें रहा करती है तो फिर किस बातसे गौको श्रेष्ठ कही जाय ? जो अपने पुत्रके साथ भी दुराचार करती है वह गौ खुद आप पापके समुद्रमें डूब रही है तो हमारे पापको कैसे नष्ट करेगी । गौ की आत्मा यदि पापी न होती तो क्यों मनुष्य और देवके भवको छोडकर पशु जन्ममें आती । पुण्यसे उच्च गति और पापसे अधम गतिका होना क्या शास्त्रकार नहीं बताते है ? ।

अगर दुग्ध देनेसे गौ बडी कहलाती हो तो भैंसने क्या अपराध किया ? । अगर गौ के पुच्छमें ३३००००००० देव रहा करते है ऐसा कहा जाय तो यहभी बडा उपहास ही है । विना सबूत ऐसी गप्पको कोई पंडित पुरुष नहीं मान सकता ।

अब तीसरे वाक्यके ऊपर नजर कीजिये ! वेदकार वृक्षोंकी पूजा क्यों बताता है ? क्या वृक्षभी देवता है ? एकेन्द्रिय जीवको भी

देवता कहना यह तो बडी भारी वेदकारकी चतुराई। "मुखमस्तीति वक्तव्यम्" इस वचनका आदर करनेवाले वेदकारने तो बोलनेमें बिलकुल मर्यादा ही नहीं रक्खी। अस्तु! पंडितोंके आगे ऐसे युक्तिरहित वाक्य हास ही को पैदा करते हैं।

अब चौथे वाक्यके ऊपर आईये!। ब्राह्मणोंकी पूजा बतानेवाला वेद ब्राह्मणोंका बडा भारी पक्षपाती मालूम पडता है। अन्यथा ऐसा ही कहना उचित था कि जो कोई सदाचारी ब्रह्मचारी मुनि महात्मा हो उसकी पूजा करनी चाहिये। क्या ब्राह्मण कपटी क्रोधी अभिमानी लोभी विषयानन्दी नहीं होते हैं? बहुत, फिर ब्राह्मणकी पूजा करना क्यों लिखा?। जैसे वैश्यादि वर्ग महात्मा सदात्मा अधमात्मा ऐसे विभागोंमें विभक्त हैं वैसे ही ब्राह्मण वर्गभी प्रकट ही दिखाई देते हैं; फिर ब्राह्मणोंका ही पक्षपात क्यों? वास्तवमें अगर कहा जाय तो दुर्गा चंडी आदि देवीयोंके आगे निर्दय रीतिसे पशुओंका संहार करनेवाले ब्राह्मण लोगोंने सरासर दयाधर्म तो डुबा ही दिया है। देवीयोंके आगे पशुओंकी हत्या करके पशुओंके खूनसे ललाटमें तिलक करनेवाले विप्रोंने क्या दया देवीकी जान नहीं ली? इस विषयमें अगर संदेह हो तो पूर्व देशमें जाकर देख लो! यहतो मेरा कहना हो ही नहीं सकता कि सभी ब्राह्मण ऐसी हिंसा करते हैं। क्योंकि गुजरात मारवाड आदि प्रदेशोंमें दयालु ब्राह्मण भाई बहुत दिखाई देते हैं बहुत ब्राह्मण लोग नम्र एवं बडे सज्जन हैं। परन्तु कहनेका मतलब यही हैकि वेदकारने ब्राह्मणकी पूजा करनेको कोई वजह नहीं बतलाई। किस हेतुसे ब्राह्मण लोग वर्णोंमें बडे हो सकते हैं?। क्या वर्त्तमानमें ब्राह्मण लोग वैश्य लोगोंकी तरह नमक मिरच साबुन घृत तैल गुड कपास आदि सब रोजगार करनेको नहीं लग गये हैं?। यदि कहा जाय कि

ब्राह्मण लोग पंडिताईका कामभी करतेहै, इसलिये ब्राह्मणजातिकी महत्ता कही जातीहै, तो क्या दूसरी जातियोंमें विद्वान् लोग नहीं हैं? ओसवालोंमें ऐसे ऐसे विद्वान् पडे हुए हैं कि जिन्होंकी तर्कशक्तिपर काशीके विद्वान्भी लट्टु होजातेहै। औरभी ब्राह्मणोंको समजना चाहिये कि अपने पैरमें सन्यासी साधु लोगोंको नमस्कार न करावें। क्योंकि साधु कितना भी अपठित हो, लेकिन, साधु साधुहीहैं, ब्राह्मण कितना भी विद्वान् क्यों न हो? लेकिन वह गृहस्थ ही है। गृहस्थको कभी साधुसे अपने पैरमें नमस्कार करानेका अधिकार नहीं है, अपने पैरमें साधुको नमस्कार कराने वाले ब्राह्मण पंडित लोग बिलकुल अनुचित ही करतेहै, इसमें कौन क्या कहेगा?। साधुलोगोंने संसारको छोड दियाहै, और ब्राह्मण लोग संसारमें फँसे हुए है। अब कहिये पाठकगण! पूजनीय कौन होसकता है? साधु ही, न कि गृहस्थ पंडित। अतः साधुको नमस्कार करके अनन्तर उसको पढाना ब्राह्मण लोगोंको उचित है। विद्यामात्रसे कृतकृत्य होजाना यह बडी भूल है। विना सदाचारके केवल विद्यासे कुछ परमार्थ नहीं होताहै, अतः अपने उचित आचारमें रक्त होकरके ब्राह्मण पंडितोंको अपनी ब्राह्मण जातिमें ही गुरुपनेका दावा करना अच्छाहै, नकि सब वर्णोमें। बस! अब सिद्ध होगया कि सदाचारी महात्मा साधु लोग पूजनीयहै, न कि केवल ब्राह्मण जाति।

अब पांचवें वाक्यके उपर आईये!। मरे हुवे पितृ लोगोंको भोजनादि पहुचानेके वास्ते ब्राह्मणोंका पेट भरना यह कितनी अज्ञानता? क्या ब्राह्मण लोग पितृ निमित्त भोजन खाकर फरागत नहीं जाते है, जिससे वे लोग मरे हुवे पितृ लोगोंको भोजन पहुंचा सकें। संसारी जीव संसारमें भ्रमण करता हुआ, देवगति, मनुष्यगति,

तिर्यग्गति, और नरकगति इन, चार गतियोंमें पर्यटन करता है। अब देखिये! मरे हुए, पितृ लोग यदि देवगतिमें गये होंगे, तब तो उन्होंको कवल—भोजन करनेकी जरूरत ही नहीं। क्योंकि देवोंका शरीर हमारे शरीरकी तरह सात धातुओंसे भरा हुआ नहीं है, अतः मनुष्योंकी तरह वे कवल-भोजन नहीं करते हैं, किन्तु अमृत प्रवाहसे सदा ही तृप्त रहते हैं। फिर देवगतिमें गये हुए पितृ लोगोंको ब्राह्मणादिके द्वारा भोजन पहुंचाना यह कितना अज्ञान? देवलोकमें क्या समृद्धि कम है? क्या देवोंने कभी क्षीर देखी नहीं है?। जब देवलोग अद्भुत संपसे संपन्न ही रहते हैं, तो फिर किस बातकी पूर्त्तिके लिये भोले लोग ब्राह्मणोंके पेटकी पूजा करते होंगे?।

यदि मरे हुए पितृ लोग मनुष्य गतिमें गये होंगे, यानि किसी जगहपर मनुष्यही हुए होंगे, तौभी कौओंके साथ उनका संबन्ध कभी नहीं हो सकता, जिससे कौओंकी नातको जिमाना उचित होसके। खयाल करो! कि मनुष्य जन्ममें अवतरे हुए पितृलोग गर्भावस्थामें वा बाल्यावस्थामें स्वजनोंने दिये हुए भोजनको कैसे प्राप्त करसकते है?। अभीतक यह चमत्कार हुआ ही नहीं कि जिस घरमें, मरे हुए पितृलोग अवतरे हैं, उसके घर वालोंने (माता पिताओंने) पैदा हुए उस बालकके ऊपर गिरता हुआ भोजन-वस्त्रादि देखा हो। फिर ऐसी प्रत्यक्ष विरुद्ध बातोंके बतानेवाले वेद आदि शास्त्र, सुशास्त्र कैसे हो सकते हैं? यदि पितृ लोग मर करके तिर्यंच योनिमें गये हों तौभी विप्रभुक्त भोजन उनको नहीं प्राप्त हो सकता, क्यों कि सब जीव निज निज कर्मोंके अनुसार सुख दुःख पाते हैं।

नरकमें गये हुए पितृलोग तो परमाधार्मिकसे पीडा पाते हुए सदा ही दुःखी रहते हैं। वहां खाना-पीना आदि आरामका नाम ही

क्या? । इस प्रकारसे समस्त प्राणी अपने अपने कर्मानुसार उसउस योनिमें पैदा होते हैं। और कर्मका फल भोगते हैं। इसलिये पितृ तर्पण श्राद्ध आदि सब पाखंड ही समजने चाहियें। भाइयो! वार वार छान करके पानी पीना चाहिये जिस किसीने जैसा तैसा कह दिया, उसको विना परीक्षा, नहीं मानना चाहिये। अब अन्तिम वाक्यके ऊपर आईये! अग्निमें होमा हुआ द्रव्य देवताओंको कैसे प्रीति कर सकता है। क्या अग्निमें होमा हुआ घृतादि द्रव्य देवताके भोगमें आता है? यानि उस द्रव्यको देवता लोग खा लेते हैं? अगर कहोगे, खालेते है, तो यह बात झूठ है, क्यों कि देवोंका शरीर हम लोगोंसे विचित्र प्रकारका है, वे लोग हम लोगोंकी तरह कवल भोजन नहीं करते। अग्निमें होमा हुआ द्रव्य स्पष्ट नष्ट होता हुआ जब मालूम पडता है, तो फिर वह द्रव्य, देवोंके खानेमें कैसे आता होगा? यह विचारणीय है। यदि अग्निको, देवोंका मुँह मानकर देवताओंको आहुत द्रव्यका भोजन सिद्ध किया जाय, तो भी किसी सुरतसे सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उत्तम, मध्यम और अधम देवता लोग, एकही अग्निरूप मुँहसे द्रव्यका भोग करते हुए परस्पर उच्छिष्ट ही भोजन करनेवाले सिद्ध होंगे! वाह जी वाह? क्या वेदकी खुशरू? सचमुच विचारे देवता लोगोंको मुसलमानोंसे भी अधम बतानेवाला वेद सिद्ध हुआ। निदान मुसलमान लोग मिलकर एकही पात्रमें खाते हैं, परन्तु वेदने तो एक ही मुँहसे देवता लोगोंका खाना मजूर रक्खा। और भी देखिये! कि एक शरीरमें बहुत मुख तो किसी जगहपर सुन भी सकते हैं, मगर, बहु शरीरमें एक मुँह सर्वथा असभव ही है, फिर भी असभव बातोंको बतानेवाले वेदकारको कैसा समझना चाहिये?। तथा और भी सोचनेकी जगह है कि बहुत देवोंका एक ही मुह माननेपर पूजा आ-

दिसे आराधित किया हुआ एक देव, और निन्दा आदिसे अपमानित किया हुआ दूसरा देव, एक ही मुखसे पूजक-निन्दक पुरुषको अनुग्रह वा निग्रह वाक्य कैसे बोल सकेंगे ? । पाठकगण ! जब देवताओंका मुंह अग्नि माना, तब देवताओंके दूसरे अवयव भी अग्निकी तरह कोई न कोई मूर्त्त वस्तु माननेही पडेंगे, तवतो देवता लोग अदृश्य होही नही सकते ' फिर पिशाचादिको अदृश्य कहनेवाले सनातन वैदिक ग्रंथ कैसे प्रामाणिक माने जायँगे ? । क्या ज्यादह कहें, इतना तो सोचो ! कि अग्निमें हरकिसमकी विष्टादि चीजें पड सकती हैं, फिर अग्निको देवोंका मुख मानना यह देवोंकी दुर्दशाही करनी है । ऐसे ऐसे वहुत अप्रामाणिक वचन वेदोंमे प्रकट हैं । तत्त्वदृष्टिसे देखते हुवे हमें नहीं मालूम पडता है कि वेदोंका रचयिता महात्मा विशुद्धज्ञानी हो । वस ! वेदही जव अशुद्ध ठहरा, फिर वेदानुयायी दर्शन वा मतान्तर कैसे शुद्ध होसकते हैं । क्योंकि छद्मस्थ दृष्टिरागी पंडितोंने वेदोंकी श्रुतियोंके भिन्न भिन्न अर्थ निकाल कर वा समझकर दर्शन पद्धति खडी करदी है ! इसी प्रकारसे अद्याऽपि वैदिक धर्मोंकी धारा चली आरही हैं । और वर्त्तमानमें भी उसी प्रकार नवीन २ मजहव वेदानुसारी निकल रहे हैं । सुनिये ! इसी विषयमें एक कवि की कविता—

> " श्रुतयश्च भिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना
> नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
> धर्म्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
> महाजनो येन गतः स पन्थाः" ॥ १ ॥

अर्थः—श्रुतियां परस्पर भिन्न हैं, परस्पर विरोधग्रस्त हैं, और स्मृतियांभी परस्पर विरुद्ध अर्थको वता रही हैं । उन्होंका

रचयिता एक मुनि नहीं है भिन्न भिन्न विचारवाले भिन्न भिन्न मुनियोंसे उनकी रचना हुई है; एवच एक मुनिसे रचना नहीं होनेके कारण किसका वचन सत्य ? किसका मिथ्या ? ऐसा संदेह पैदा होता है। अतएव श्रुति आदिमें प्रामाण्यका निश्चय नहीं होसकता है। इसलिये धर्म रहस्यका पता कहा मिले ? बस! शास्त्रों की पद्धति को छोडकर, व्यवहार पवित्र, महाजनोंसे सेवित, दया-दान देव पूजा प्रभृति प्रसिद्ध ही मार्ग आदरमें लाना चाहिये ॥ देखो महाशय गण ! कविकी कविता, कविका हृदय खुब मालूम हुआ ? विचारा कवि, श्रुतियों के विरोध देखकर उदासीन हो गया, और ऋपियोंके झगडों में नही फँसा–दृष्टि पक्षपाती नहीं बना। ओर श्रुतिस्मृतियोंसे असंतुष्ट हो कर वहासे निकल गया, व्यावहारिक पवित्र मार्ग के ऊपर आया। देखिये ? अब कहा रही वेदवाणीकी मधुरता ? वेद वाणीके ऊपर पानी ही फिर गया। सुनिये ! पाठक वर्ग ! औरभी वेदकी कठिनता, जिसने अपना कर्तृत्वका स्पष्ट उल्लेख भी नहीं दिया, कैसे देवें ? देवे तो अपनी ढोल जितनी पोल प्रकट ही हो जाय, हा ? कैसी वेदने धूम मचादी ? कैसा वेदकार बहादुर ? हमें वेदकारकी चतुराई पर मुग्ध होना पडता है कि वेदका निर्माण करनेपर भी उसने वेदको अपौरुषेय सनातन पवित्र सिद्ध किया। ओहो ? कैसा विचित्र इन्द्र-जाल ? इस इन्द्रजालने तो ज्ञानी ऋपियोंको भी भ्रमित कर दिया, नहींतो जैमिनीय प्रजा, वेदको अपौरुषेय कैसे बोल सकती ?। न जाने जैमिनीयनेताको वेदकी पौरुषेयता माननेमे क्या उदर पीडा होती थी ?। क्या सर्वज्ञ सिद्धि प्रसगसे डरकर वेदको अपौ-रुषेय माना। वाह ? बडी अक्कल। वेदको अपौरुषेय माननेपर क्या वह डर अब नहीं रहेगा ? अवश्य रहेगा ?। सुनिये ? जैमि-नीयोंकी पुकार :—

"नोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यंतं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमेवंजातीयकमर्थमवगमयति, नान्यत् किंचने-न्द्रियम्" ॥

अर्थ—नोदना (श्रुति) भूतकालिक, वर्त्तमानकालिक, भविष्यकालिक, सूक्ष्म, और व्यवधानमें आये हुवे, तथा दूर रहे हुवे, सभी पदार्थोंका प्रकाश करती हैं। यह काम इन्द्रियोंसे नहीं होता हैं।

पाठकगण? ऐसी अद्भुत नोदना, तीनकालके पदार्थोंका निवेदन किसी पुरुषको अवश्य करेगी, अन्यथा उक्त वाक्य अप्रामाणिक क्यों न होगा? जब नोदना किसीभी पुरुषको त्रैकालिक चीजोंकों निवेदन करती है. तो वहीं सर्वज्ञता सिद्ध हुई। अहा? "घट कुट्यां प्रभातम्" यह न्याय कैसा चरितार्थ हो गया? क्योंकि सर्वज्ञ सिद्धि प्रसंगसे डरते हुए मीमांसकको वेदकी अपौरुषेयता मानने परभी सर्वज्ञ सिद्धि सिद्धांतका सत्कार किये बिदुन छुटकारा नहीं हुवा।

प्रिय पाठक? मीमांसक यदि मीमांसक होता, तो ऐसे भ्रम जालमें नहीं फँसता। किन्तु प्राज्ञेतर लोग अपना मतलब निकालनेकी चतुराई नहीं जानते हैं। कैसे जानें? अज्ञानता और चतुराई परस्पर विरुद्ध है। जिन धर्मोंका प्रवाह असर्वज्ञोंसे चला है, उन धर्मोंके अधिकारि लोगोंको चतुराई कहांसे प्राप्त हो सकती है? चतुराई [विज्ञान]का समुद्र सर्वज्ञदेवही होते हैं। उन्हींका उपदेश सर्व प्रकारेण निर्मल होता है। वहां लेशमात्र भी दोष नहीं ठहरता, अतः उनके उपदेशको सादर पीनेवाले लोगोंको चतुराई [विज्ञान] सुलभ है, किन्तु मांसभक्षणका उपदेश करनेवाले जैमिनीको किस जगहसे चतुराई मिलसकती है?। याग धर्मका

बहाना लेकर मासभक्षणको उचित समझनेवाले जैमिनि मुनि का हृदय अवश्य वज्र कठिन होना चाहिये। जो मास भक्षण, कुदरतसे मनुष्य जातिके भक्षण योग्य नहीं, तो फिर मनुष्योंके लिये मास भक्षणकी नवीन कुदरत जैमिनिको कहांसे मिली, यज्ञानुष्ठान, पशुमारण विना क्या होही नहीं सकताथा, जिससे पशु मारणको जैमिनिने धर्म समझ लिया। हा! कैसा घोर पाप? । क्या सनातन पवित्र धर्म, पशु मारणमें ही ठहरा है, याते पशु मारण रहित ही याग धर्मको ऋषिलोगोंने मजूर न रक्खा। न जाने हिंसाको धर्म मानने वालेंने पशु रक्षाको क्यों धर्म समझा होगा? और 'अहिंसा परमो धर्मः' इस वाक्यका सत्कार कैसे किया होगा!

देखिये ! ऋषिके सुभाषित—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः ॥१॥
ओषध्यःपशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितिं पुनः ॥२॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीत् मनुः ॥३॥
एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं च पशूंश्चैव गमयत्युत्तमा गतिम् ॥४॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पंच तु ॥ १ ॥

षण्मासान् छागमांसेन पार्षतेनेह सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २ ॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोर्मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ ३ ॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन तु ।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ ४ ॥

अर्थ—खुद ब्रह्माने यज्ञके लिये पशुओंको बनाया है। यह यज्ञ जगतकी विभूतिको पैदा करनेवाला है। इस लिये यज्ञमें पशुवध, वध नहीं है। औषधी पशु वृक्ष तिर्यञ्च और पक्षि, यज्ञके लिये मरणमें पहुंचे हुवे उच्च गतिमें जाते हैं मधुपर्क, यज्ञ, और श्राद्धादि कर्मोमें पशुओंकी हिंसा करनी चाहिये। इन पूर्वोक्त प्रयोजनोंमें पशुवोंको हणता हुवा वेद पंडित ब्राह्मण, अपनी आत्मा और पशुओंको उत्तम गतिमें गमन कराता है ।

दो मास पर्यंत मच्छ मांससे पितृलोगोंको तृप्ति होती है। और तीनमास तक हरिणके मांससे, चार मासतक मेढोंके मांससे, पांच मासतक जंगली कुकड़के मांससे, छ मासतक बकराके मांससे, सात मासतक सफेद हरिणके मांससे, आठ मास तक काले हरिणके मांससे, नव मास तक रू रू अर्थात् एक प्रकारके हरिणके मांससे, दश मास तक जंगली सुवर और भैंसाके मांससे, ग्यारह मास तक सुस्सा तथा कछुवाके मांससे, बारह मास तक खीर और गायके दूधसे तृप्ति होती है, और बारह वर्ष तक बूढे बकराके मांससे पितृ लोगोंकी तृप्ति होती है ॥

वाचक ! ये श्लोक किसके है ? ये श्लोक उसी महर्षिके हैं, जिसकी तारीफ खुद वेदकारने भी की है, इसका नाम है—मनुजी ।

वास्तवमें देखा जाय, तो वेदोंका बनानेवाला एक पुरुष नहीं है, किंतु बहुत ऋषियोंकी लिख छोडी हुई श्रुतियोंको, व्यासजीने संगृहीत—एकत्रित करके ऋग्-यजु-साम और अथर्ववेद, इन चार विभागोंमें विभक्त की, अब समझिये ! विचारक महाशय !, कहां रही ईश्वरकी रचना ? । इन्साफभी ना कहता है कि निराकार ईश्वरसे शब्दरचना नहीं बन सकती । वही उपदेशक—वक्ता है, जो कि शरीर धारी है । ईश्वर जब शरीर रहित है, तो फिर ईश्वरके मुँहसे शब्द ध्वनिका निकलना कौन विद्वान् मान सकता है ? । अशरीरी ईश्वरको जब मुँह ही नहीं है, तो वह कैसे उपदेश दे सकता है ?, इससे यह साफ मालूम पडता है कि वेदोंका उपदेशक ईश्वर नहीं है, किंतु असर्वज्ञ ऋषि गण है ।

जबतक घातक कर्मकी वर्गणाएँ आत्माके ऊपर लग रही है, तबतक वह पुरुष महर्षि—परमर्षि ही क्यों न हो ?, मगर असर्वज्ञही है । उसका स्वतत्र उपदेश निःसंदेह प्रमाणरूपसे ग्रहण नहीं किया जा सकता । संसारमें रहे हुए पुरुषको तबही सर्वज्ञता मिल सकती है, जब कि उसकी आत्मासे घातक कर्म सर्वथा नष्ट हो जॉय, मगर वैदिक विद्वानोंके हिसाबसे सर्वज्ञता पाना असंभवही मालूम पडता है, क्योंकि पहले तो कोई सच्चा सर्वज्ञका उपदेश ही नहीं है कि जिसके जरीयेसे कर्मोंको नष्ट करनेका उपाय मालूम हो स[illegible] संसार प्रवृत्ति बन सके । कौन ऐसा देहधारी सर्वज्ञ, [illegible] माना है कि जिसके उपदे-

शसे, प्रजाको धर्मका वास्तविक भान हो ? । हमारी समझमें, वैदिकसृष्टिसे एक भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वेदान्ति| लोग तो खुद ही शरीरधारीको सर्वज्ञ माननेसे नाराज हैं । और नैयायिकोंके अभिप्रायसे जब मुक्ति ही जडमयी है, तो संसारस्थ–पुरुषको सर्वज्ञता कैसे मिल सकती है ? यह सीधी बात है कि मुक्ति पाने पर भी अगर सर्वज्ञ स्वरूप आत्मा न हो, तो संसारमें रहे हुए पुरुषको तो सर्वज्ञता मिले ही कहांसे ? अगर च संसारमें सर्वज्ञताका उदय माना जाय, तो मजाल नहीं है कि फिर वह सर्वज्ञता मुक्ति मिलने पर आत्मासे भाग जाय। इसीसे (जडमय मुक्ति वादसे) यह सबूत हुआ कि नैयायिकोंके विचारसे ससारस्थ पुरुष कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता । वस ! आगया वैदिकोंके घरमें सर्वज्ञका भयंकर दुर्भिक्ष; वतलाईये ! अब कौन रहा सर्वज्ञ—उपदेशक? जो कि उपदेश द्वारा धर्मका प्रकाश कर सके, क्योंकि निराकार ईश्वरसे तो कुछ उपदेश आदि होही नहीं सकता, और असर्वज्ञ ऋषियोंके उपदेश प्रामाणिक नहीं माने जा सकते । अब कहिये ! पाठक प्रवर ! वेद किसके बनाये ठहरे ? , वैदिक मतका सूत्रधार कौन रहा ? ; उक्त विचारके आंदोलनसे हमें यह जच गया है कि वेद, सर्वज्ञके किये हुए नहीं है —वैदिक मंत्रोका उपदेश, सर्वज्ञका किया हुआ नहीं है, और असर्वज्ञ ऋषियोंका वाक्य समूह रूप ही जब वेद सिद्ध हुआ, तो उसकी अप्रामाणिकता निबन्धन, औरभी वेदानुयायि शास्त्र, अप्रामाणिक कहे जाँय, यह स्वाभाविक है ।

वास्तवमें अगर कहने दो ! और दिल नाखुश न हो तो वहांतक हमारी धारणा है कि वेद असर्वज्ञ रचित हैं, इतना ही नहीं, बल्कि वेदोंके रचयिता, एक हो या अनेक हों, दयालु हृदय

वाले नहीं थे, नहीं तो वेदमंत्रोंमें विकराल हिंसाका बयान क्यों होता ?

देख लीजिये ! फिर भी वेदमन्त्र—

" एष छागपुरो वाजिना पुष्णो भागो
नीयते विश्वदेव्यः "। (ऋग्वेद संहिता)

यहाँसे लेकर दश पंक्ति तक ऋग्वेद पढनेसे वेदकारका दयार्द्र हृदय, स्फुट मालूम पड जाता है।

उक्त मंत्रका साराश यह है—

घोडेके पास यह बकरा, पूषा और दूसरे देवोंके लिये लाये हैं। इस घोडका जो कुछ मास, मखिया खायेंगी, और जो कुछ घोडेके मारने वालेके नखोंमें रह जायगा, ये सब घोडेके साथ स्वर्गमें जायेंगे। इस घोडेके पेटमेंसे जो कुछ कच्चा मास निकलेगा, वह स्वच्छ करके अच्छी तरह पकाना। घोडेके शरीरमें ३४ पासलिया हैं, इनमें छुरा अच्छी तरह फेर फेरके, कोई हिस्सा बिगडने न पावे, अग अलग अलग निकालिये।

इस प्रकार, ऐतरेय-तैतरेय- शतपथ ब्राह्मण वगैरह बहुत स्थलोंमें पशु-हत्या करनेका घोर बयान किया है। यहाँ कितना लिखा जाय; चारों वेदोंमें, भूरि भूरि, पशुवध करनेके मन्त्रोंको देखते हुए भी जिन महाशयोंका हृदय, वेदोंके ऊपर वैसेका वैसा मोहित बना रहता है, और वेदोंकी प्रामाणिकताके विश्वाससे फूला नहीं समाता, उसमें उनका कोई अपराध नहीं है, अपराध केवल दुराग्रहका है, जो कि अच्छे अच्छे विचारवंत लोगोंके भी गलेको पकड बैठा है।

महानुभावो ! धर्म एक दुनियाँमें आलादर्जेकी चीज है। धर्मके बराबर और कोई अमृत नहीं, और अधर्मके समान कोई विष नहीं है, अब समझिये ! कि अगर अमृतकी जगहपर भ्रमसे विषका सेवन किया जाय, तो कितनी दुर्दशा होगी ?। अतः पुख्ता रीतिसे अमृत और विषका फरक समझकर पीछे अमृतका ग्रहण करो, ! और विषको छोडो ! । अपने बाप दादे यदि विष खाके मरते आये हों, एतावता अपने को भी विष भक्षण करना चाहिये, यह इन्साफ नहीं कहाता है । इस लिये अक्ल मंदोंको चाहिये कि पहले अपना मन, मध्यस्थ—उदार बनावें, और सरल रीतिसे, धर्म—रत्नकी खोज करें ।

जिज्ञासु—

बात तो सही है । हिंसा वगैरह दोषोंसे भरा हुआ शास्त्र, कैसे सुशास्त्र कहा जा सकता ?। अब तो एक बौद्ध दर्शनके ऊपर कुछ २ विश्वास रहता है, क्योंकि अब बौद्धदर्शनसे अतिरिक्त कोई दर्शन, सत्य रूपसे मालूम नहीं पडता । निदान जैन दर्शन भी बौद्ध दर्शनकी एक शाखा रूप ही सुना जाता है । वह बौद्ध दर्शन भी यदि अप्रामाणिक होगा, तब तो धर्मका नाम ही कैसे रहेगा ? । हा ! बडा कष्ट, क्या धर्म रहित ही जगत् होगा !। हा दैव ! सत्य धर्मका यदि बिलकुल अभाव होगा, तो इस संसारका शरण कौन होगा ?, मोक्षकी व्यवस्था कैसे बनेगी ?, परलोककी विचित्रता भी कैसे सिद्ध होगी ?, ज्यादह क्या कहें, पहले जीव ही पदार्थको ठहराना कठिन होगा, बस ! पहुँच गयी नास्तिकोंकी कीर्ति आवाज ।

ज्ञानी—

चार्वाक (नास्तिक) का नाम भी मत लो !, वह तो

जीव, पुण्य, पाप, परलोक, मोक्ष वगैरह अदृष्ट पदार्थोंको बिल-कुल नहीं मानता है। 'नास्तिक तु न दर्शनम्' इस वाक्य प्रयोगसे भी नास्तिक मत, दर्शनोंकी गिनतीमें है ही नहीं। क्योंकि नास्तिकोंके विचार सरासर झूठे हैं। दुनियोंमें, एक राजा, एक दरिद्र, एक शेठ, एक नौकर, एक सुखी, एक दुःखी, एक धनी, एक गरीब, एक पंडित, एक मूर्ख, इत्यादि अनंत विचित्रताएं जब प्रत्यक्ष दिखाई देती है, तो सिवाय पुण्य, पाप, ये विचित्रताएं किससे सिद्ध की जा सकती है? । इसलिये इस स्फुट विषयमें ज्यादह दलीलें देनी जरूरकी नहीं समझते।

अब रहा बौद्धदर्शन, उसके भी सिद्धान्त समालोचना करनेपर नहीं ठहर सकते। बौद्धोंके हिसाबसे सब चीजें सर्वथा क्षणिक है, मगर एक ही चीज, बहुत दिनपर, बहुत महीनेपर, और बहुत वर्ष पर भी जब बराबर 'वही यह है' इस आकारसे पहचानी जाती है, तो यह बात, सब चीजोंको सर्वथा क्षणिक मानने पर कैसे बनेगी? । क्या पहले क्षणमें देखा हुआ घट, दूसरे क्षणमें है ही नहीं?, अगर यही बात हो, तब तो जगद्-व्यवहार लुप्त हो जायगा।

बालक भी यह समझता है कि थोडे दिनोंके लिये किसी मनुष्यके पाससे कोई चीज ली जाती है, वह चीज वापीस उसको अवश्य देनी पडती है, परन्तु बौद्धोंके विचारसे लेनेवाला पुरुष, वह चीज मालिकको वापीस कैसे देगा? यही क्यों न कह देगा? कि आपकी चीज लेते वक्त ही उड गई, यह चीज तो दूसरी है।

दूसरे क्षणमें सर्वथा वस्तुका नाश मानने वालोंने व्यवहार देवताका मुँह तोड दिया है। अगर बौद्धोंका यह अभिप्राय हो कि सभी चीजें उत्पन्न होनेके समयमें क्षण-विनश्वर स्वभावको लेकर ही पैदा

होती हैं, यदि यह न माना जाय, और यह कहा जाय कि पैदा होती हुई वस्तुका यह स्वभाव ही है–'थोडे समयतक ठहरना;' तब तो वस्तु मात्र नित्य ही बनेंगी—किसी वस्तुका नाश न होगा, क्यों कि मुद्गर–कुठार वगैरह के प्रहार होने परभी 'थोडे समय तक ठहरना' इस स्वभाववाली वस्तुमात्र उस वक्त कैसे नष्ट हो सकती हैं ?, निदान, प्रहार होते वक्त भी वस्तुमें उक्त स्वभाव मौजूद ही है। इसके उत्तरमें इतना ही कहना काफी है, कि क्षण मात्र रहनेके स्वभावको लेकर ही पैदा होती हुई वस्तु, दूसरे क्षणमें कैसे नष्ट हो सकेगी ?, क्या दूसरे क्षणमें, वस्तुका क्षणमात्र रहनेका स्वभाव कौएं खा जायँगे ?। देखिये ! प्राज्ञ वाचक ! कैसा माकूल उत्तर ?।

वास्तवमें तो उत्पाद--विनाश और ध्रौव्य, इन तीन स्वभावोंसे युक्त ही वस्तु वस्तु कहलाती है, यानी वस्तुमात्रमें ये तीन स्वभाव सदातन रहा करते हैं, विना इनके वस्तुत्व ही नहीं बन सकता, यह बात अगाडी जा के खोल देंगे। बस ! इस सिद्धान्तकी छत्रछायाका यही प्रभाव है कि वस्तु मात्र, नये नये पर्यायोंसे उत्पन्न, और पूर्व पूर्व पर्यायोंके विनाश होनेसे विनष्ट हुआ करती हैं। और मृत्तिका—सुवर्ण वगैरह अन्वयि द्रव्यसे, ध्रुव—सदातन भी कहलाती हैं।

ज्ञानाद्वैत वादि बौद्धलोग, जगत् में ज्ञानहीको देखते है, इनके विचारसे, सिवाय ज्ञान और कोई चीज नहीं है। इसके जवाबमें यही पूछते हैं, कि पृथ्वी, पानी, आग, वगैरह प्रत्यक्ष देखाती हुई चीजें क्यों नहीं हैं ?—किस सबूतसे बाहरकी चीजोंका निषेध करते हो ! ; कहोगे ! प्रत्यक्षसे, तबतो अपनी छुरी से अपना शिर काटा ऐसा हुआ; क्यों ?, क्यों क्या ?, प्रत्यक्षही

उल्टा बाहरकी चीजोंको हाथमें लिये हमारे तुम्हारे आगे फिरता है, फिर भी उन्हें नहीं देखना, यह कितनी अंधता कही जाय ?। प्रत्यक्ष प्रमाण ही जब बाहरकी चीजोंको साबीत कर रहा है तो इसमें और प्रमाणकी कोई जरूरत नहीं है। जी ! प्रत्यक्ष तो भ्रान्त है, क्यों ?, आपहीका–जो यह बोल रहे हो !, यह ज्ञान क्यों भ्रान्त नहीं ?। बाह्य चीजोंके द्वारा व्यावहारिक और पारमार्थिक सभी प्रवृत्तिया बन रही है, तिसपर भी इन्हें एकदम उडा देना, यह बडा भारी प्रत्यक्षविरोध दोष बौद्धोंके ऊपर घुबारव कर रहा है।

यह तो निर्विवाद बात है कि ज्ञान मात्र, किसी न किसी विषयको पकडे ही रहता है, नहीं तो लोगोंकी प्रवृत्ति नहीं बनती। अगर कहोगे ! कि भ्रमज्ञानका तो कोई विषय नहीं है अर्थात् भ्रमज्ञान निर्विषय है, तो यह कहना गलत है, क्योंकि रस्सीमें साँपका जो भ्रम होता है, उस भ्रममें साँप विषय पडा है, यदि कहोगे ! कि जिस जगहपर यह ज्ञान हुआ है, वहा कहा साँप बैठा है ? वहा तो रस्सी है, इस लिये भ्रमज्ञान झूठा ज्ञान है, तो समझो ! कि इस ज्ञानको जब झूठा ज्ञान कहते हो तो इससे अतिरिक्त और कोई सच्चा ज्ञान अवश्य होना चाहिये, नहीं तो ' यह झुठा ज्ञान है ' ऐसा व्यवहार कैसे होगा ?।

जब भ्रान्त और अभ्रान्त ज्ञानकी व्यवस्था मजूर रक्खी गई है, तो फिर बाह्य चीजोंकी सिद्धि, बौद्धोंकी गोदहीमें भली भाती आ बैठी समझी जाती है। क्योंकि भ्रान्तज्ञान वही है, जो कि सद्भूत विषयको छोड, दूसरे ही विषयको पकड बैठे। जैसे रस्सीमें साँपका ज्ञान। रज्जुके ऊपर नजर किये हुए मनुष्यकी (रज्जुका उद्देश करके) ' यह साँप है ' ऐसी जो समझ होती

है, इसका नाम है—भ्रमज्ञान। और अभ्रान्त यानी सच्चा ज्ञान वही है, जो सच्चे विषयको, अर्थात् वस्तुको वस्तुस्वरूपसे ग्रहण करे, जैसे रज्जुमें 'यह रज्जु है' ऐसी समझ। घटको घट, कपडेको कपडा, पानीको पानी, वृक्षको वृक्ष, पुरुषको पुरुष और स्त्रीको स्त्री समझना, यह अभ्रान्त—सच्चा ज्ञान है।

अभ्रान्त ज्ञानका जन्म, बाहरकी चीजोंकी सिद्धिके लिये होता है। कहांतक कहें, भ्रमज्ञान और स्वप्नज्ञान भी अन्यत्र (दूसरी जगहमें) साक्षात् की हुयी चीजहीको विषय करता है। सर्वथा अप्रतीत वस्तुका, न स्वप्नज्ञान, न तो भ्रमज्ञान होता है, यदि सर्वथा असद्भूत चीजका स्वप्नज्ञान वा भ्रमज्ञान होना मंजूर रखते हों! तो कहिये! गदहेके सींगका भी स्वप्नज्ञान वा भ्रमज्ञान क्यों न होगा? इसलिये अभ्रान्तज्ञानकी तरह भ्रान्तज्ञान भी बाह्यवस्तुओंकी सिद्धि करनेमें प्रबल सबूत है, यह क्यों न माना जाय? बस! ज्ञानहीसे बाह्यचीजें आपही आप सिद्ध हो जाती हुई ज्ञानाद्वैत मतको उडा देती हैं!

शून्यवादि--बौद्धोंके विचार तो विना शिर—पैरके आपही आप धूलीमें लेट जाते हैं। शून्य--वादको साधते हुए बौद्ध, अपनी वाक्य प्रणालीको अगर शून्य ही कहेंगे, यानी 'हमारा वचन कुछ चीज नहीं है' ऐसा स्वीकार करेंगे, तो कौन विद्वान् आशा रख सकता है कि उनके शून्य वचनोंसे शून्यवाद सिद्ध हो जाय?। अगर च अपने वचनोंको सद्भूत मानेंगे, तब तो शून्य-वाद रहा ही कहां?।

आकाशसे गिरते हुए वज्रको देख, बडे डरसे इधर उधर भागते हुए भी शून्यवादि--बौद्धने, शून्यवाद--सिद्धांतको कायम किया, यह कितना आश्चर्य?।

शून्यवाद अगर सच्चा हो, तो पत्थर वा वज्र, कोई भी आकाशसे क्यों न गिरे ? डरना क्यों चाहिये ?, गिरता हुआ शून्यरूप वज्र, हमें क्या कुछ कर सकता है ? मगर नहीं, ये सब बौद्धोंके विचार, प्रलाप मात्र हैं, इनसे तो फिर भी वेदानुयायी, छोड ब्रह्मवादी, दर्शन कुछ अच्छे हैं, जो कि इनकी तरह खुली आँखोंमें एकदम भरमूठी धूल नहीं फेंकते * ।

स्वामी दयानन्दजी अपने सत्यार्थप्रकाशमें लिखते हैं कि जैन और बौद्ध दर्शन, समान है, क्योंकि जैनदर्शनकी तरह बौद्ध दर्शन भी स्याद्वाद–सप्तभंगीको मान देता है । मगर स्वामीजीका यह कथन सरासर झूठ है । सिवाय जैन दर्शन, किसी दर्शनमें जा के निगाह कीजिये !, और सब दर्शनोंके ग्रन्थ, पत्र उलट पलट करके बडी सावधानतासे देखिये !, हर्गिज यह बात नहीं मिल सकती कि जैनदर्शनसे अतिरिक्त मतवालोंने स्याद्वाद सिद्धान्तके सत्कार करनेका सौभाग्य प्राप्त किया हो । स्वामीजीने तो क्षुद्र द्वेषानल जगाकर जैनियोंको ऊपर, नास्तिक शब्दका व्यवहार तक, निन्दा वर्षाई है । मगर याद रहे कि निन्दकोंकी निन्दासे सत्य वस्तुके अशमें कुछ भी आँच नहीं आती। नास्तिक कहनेसे यदि नास्तिक हो जाते हों तो बतलाईए! दुनियाँमें, विना नास्तिक हुए कौन बचेगा ? । जिस किसीको नास्तिक कहनेकी बुद्धि, स्वामीजीको हर्गिज नहीं होती, अगर व्याकरण–तद्धित सूत्रका अभ्यास किया होता। मगर हजारों प्रकारके कपट प्रपञ्चोंमें अभ्यस्त भी विद्या चली जाती है, तो फिर मुख चुम्बित विद्या की तो बात ही क्या करनी ? । यह तो साधारण भी व्याकरणपाठी बालक जान सकता है कि परलोक, पुण्य, पाप वगैरह अदृष्ट ची·

* यह कथन पदार्थ विद्याके अभिप्रायसे है ।

जोंको जो न मानता हो, वही नास्तिक है, उसीमें अन्वर्थ नास्तिक शब्दका व्यवहार हो सकता है। इतनी छोटीसी भी बात स्वामिजीके ध्यानमें नहीं थी, यही इनकी विद्वत्ताका नमूना देख लीजिए!। जैन दर्शनमें जीव, पुण्य, पाप, परलोक, और मोक्ष वगैरहका जैसा वयान किया है, उसका स्वल्प विन्दु आगे पाठकोंके सन्मुख उपस्थित करेंगे, ताकि लोग समझ सकें कि आस्तिक्य की सच्ची सीमा अगर कहां ही भी विश्रान्ति लेती है, तो वह जैनदर्शन ही है।

वैदिकदर्शनोंसे जैनदर्शनमें जमीन आसमान जितना फरक होनेमें अगर कोई भी प्रधान कारण है, तो स्याद्वाद–सप्तभंगी है। इसीसे वैदिक और जैनदर्शनके बीचमें पहाड जितना अन्तर रह जाता है, जब यह बात पक्की है, तो सोचो! कि वही जमीन आस्मान जितना फरक करनेवाला हेतु, जैन और बौद्ध दर्शनके बीचमें क्या नहीं पडा है?, क्या उसे कौएं खागये हैं। जब बौद्धाचार्य, स्याद्वादको वडी क्रूर नजरसे देखते हैं, तो फिर वैदिक दर्शनोंकी तरह बौद्धदर्शनभी जैनदर्शनसे हजारों कोश दूर ही क्यों न कहा जाय?। स्याद्वाद क्या चीज है? इस बातको सूक्ष्म नजरसे स्वामीजी यदि जानते होते, और बौद्ध दर्शनका शास्त्र एकभी थोडासा पढे होते, तो स्वामीजीकी इतनी अज्ञानता जगत् जाहिरमें नहीं आती।

जैनदर्शन और बौद्धदर्शन एक नहीं है, इस विषयमें स्याद्वाद नयही जब जोर शोरसे सिंहनाद कर रहा है, तो अल्पज्ञोंके लिखे हुए ऊटपटांग इतिहासका खरनाद कौन अक्लमंद सुनेगा?। याद रहे कि एक दो छोटीसी बातें मिलने पर दो चीजें, एक कभी नहीं मानी जा सकतीं।

बौध्दर्शनका प्रणेता बुद्धदेव, जब अपूर्णज्ञानी था, तो

उसके उपदेशमें प्रामाणिकता किस जगहसे आसकती है ?। जिस-के भावनेत्रमें तिमिर फैला हो, वही, बौद्धदर्शनको निर्दोप देख सकता है, मगर थोडाभी निपुण विचार करनेवाले महाशय, उक्त दलीलोंसे बौद्धदर्शनको असर्वज्ञमूल, और अप्रामाणिक समझते हैं।

हमें निष्पक्षपातसे यह कहना जरूरी मालूम पडता है कि अन्यदर्शनोंमें—दूसरे धर्ममें जो अच्छी अच्छी बातें दिखाई दे-ती हैं, वे जैनदर्शन—अर्हत्प्रवचन रूपी महासागरसे विविध नय रूप तरंग लहरीके वेगसे उडी हुई ब्रन्दियां हैं।

एक एक नयको सावधारण रीतिसे पकड कर निकले हुए बौद्ध और वैदिक दर्शनोंके परस्पर भयंकर कलह होनेके समयमें, निरवधारण—सापेक्ष रीतिसे तमाम नयोंको मान देनेवाले महा-राजा श्री जैनदर्शनने बीचमें आके स्याद्वाद-सिंहनादको फूंक कर, अपने ओर विजय कमलाको खींच ली। और दिशोदिशि अपना निष्कंटक, अचल साम्राज्यका सिक्का बैठाया।

इससे पाठक वर्ग जान गये होंगे कि जैनधर्म, बौद्धधर्मकी शाखा नहीं। कहा गांगा तेली ? और कहा राजा भोज ? कहा बौद्ध धर्म ? और कहा जैन धर्म ?। एक दो बातें मिलनेसे यदि जैन और बौद्ध दर्शनको एक कहा जाय, तो कह दीजिये ! वै-दिक दर्शन और बौद्धदर्शनको भी एक, और सुन लीजिये ! उ नमें मिलती हुई एक सरीखी मख्यावध बातें—

१ न्याय सूत्रका प्रणेता गौतममुनि है, और बौद्ध दर्शनका भी प्रणेता गौतममुनि है।

२ न्याय दर्शनमें ज्ञान—शब्द वगैरहको क्षणिक माना है। और बौद्धदर्शनमें तो वस्तु मात्र क्षणिक है ही है।

३ न्यायदर्शनमें सर्वज्ञ ईश्वर माना है, और बौद्धदर्शनमभी सर्वज्ञ ईश्वर माना है।

४ न्यायदर्शनमें प्रमाण प्रमेय व्यवस्था रक्खी है, और बौद्धदर्शनमें भी प्रमाण प्रमेय व्यवस्था स्वीकारी है।

५ न्यायदर्शनमें मूर्त्ति पूजा मानी है, बौद्धदर्शनमेंतो मूर्त्ति पूजा प्रसिद्ध ही है।

६ न्यायदर्शन, वीतराग अवस्था पानेसे मोक्ष प्राप्ति वतलाता है। बौद्धदर्शनकी भी यही मर्यादा है।

७ न्यायदर्शनमें तर्क वगैरहको प्रमाण रूपसे नहीं माना है, बौद्धदर्शनभी तर्क वगैरहको प्रमाण नहीं कहता है।

८ बौद्धदर्शनमें हेतुके जो तीन रूप माने हैं, वे तीन रूपभी न्यायदर्शनमें माने गये हैं।

९ बौद्धदर्शनमें ज्ञानके प्रति विषयको कारण कहा है, न्यायदर्शनमेंभी इस बातको मंजूर रक्खा है।

१० न्यायदर्शनमें, अर्थापत्ति अभाव वगैरहको भिन्न प्रमाण नहीं माना है, इसी मर्यादा में बौद्ध दर्शनभी बैठा है।

११ काणाददर्शनमें प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने गये हैं, उसी तरह बौद्धदर्शनभी उक्त दोनों प्रमाणोंको मानता है। इसी प्रकार सब दर्शनोंके साथ बौद्धदर्शनकी कई कई बातोंसे समानता स्पष्ट ही दिखाई देती है, फिर भी जैसे वैदिकदर्शनोंसे बौद्धदर्शन भिन्न ही है, वैसे जैनदर्शन भी बौद्धदर्शनसे बिलकुल भिन्न दर्शन है।

वाचक वृन्द! एकान्तवाद रूपकी चडमेंफँसा हुआ बौद्धमत, जनदर्शनके साथ एक तराजूमें हर्गिज नहीं बैठ सकता। अपनी

माताका पेट तोडकर जन्म लेनेवाले और मांस भक्षणका उपदेश करनेवाले बुद्धने, अकारण करुणा रत्नाकर, सर्वज्ञ, अर्हन् परमात्मा देवके शासनसे एकान्त विपरीत ही सृष्टि प्रकट की है, यह बात पहिले संक्षेपसे विदित हो चुकी है। अतः परस्पर विरोधी धर्मोंसे दुःखी होते हुए महाजनोंको परम सत्य सनातन श्री वीतराग-धर्मका शरण लेकर अपना दुःख मिटाना चाहिए।

सब दर्शनोंसे विलक्षण, परम शुद्ध, जैनशासन, सांसारिक वासनारूपी सांपनीको वश करनेमें एक जांगुली मंत्र है।

परस्पर किसी प्रकार विरोध नहीं होनेसे, तथा सर्वज्ञ कथित होनेसे, एवं दया, दान, शील, तप, भावना, शम, दम, परोपकार आदि पवित्र उपदेशरूप अमृतकी मुसलधारा वर्षानेसे, और विद्वान् मुमुक्षु महात्माओंके आदर मार्गमें आनेसे, जैनधर्म, परम सत्य—प्रामाणिक सिद्ध होता है।

संसारमें सैंकडो धर्म प्रचलित होने पर भी परम सुखको देनेवाला एक अनादि धर्म अवश्य होना चाहिए, और उसीका नाम है–वीतरागधर्म। जैनधर्मकी पवित्रता और प्राचीनताके विषयमें जैनोंके मन्तव्यही मजबूत सबूत है, क्योंकि जिस दर्शनके सिद्धान्त, बिलकुल प्रामाणिक हैं, वह दर्शन, पवित्र और प्राचीन सिद्ध होता है।

जैनागम, जब अनेकान्तवादका प्रतिपादन कर रहा है, तब बौद्ध और वैदिक दर्शनोंने, एकान्तवादको खडा किया। सब दुनियाँ, एकान्तवादमें गुम हो गई है, तब एक ही जैनशासनने सब चीजोंके उपर स्याद्वादनयका सिक्का बैठा दिया। स्याद्वादही जैन-दर्शनका अटल लक्षण है। "स्याद्वाद क्या चीज है?" इस जिज्ञासाको अच्छी तरह शान्त करनेकी ताकत इस लघु लेखमें नहीं

है, तो भी संक्षेपसे यही समझना चाहिये कि एकही वस्तुमें, सत्त्व, असत्त्व, वगैरह अनंत धर्मोंको स्वीकारना उसका नाम है-स्याद्वाद। जैसे एकही पुरुष, पुत्रकी अपेक्षा पिता, और पिताकी अपेक्षा पुत्र होता है, उसी तरह वस्तुमात्र, स्वरूप अर्थात् अपने रूपसे सत्, और दूसरे रूपसे असत् हैं। भिन्नभिन्न अपेक्षाओंसे भिन्नभिन्न धर्मोंको एक वस्तुमें मानना यही स्याद्वाद शब्दका मतलब है।

और भी देखिये! समस्त वस्तु प्रतिक्षण पलटती रहा करती हैं-पूर्वपरिणामको छोडकर दूसरे परिणाममें आती रहती हैं। जैसे कुंडलको भांग कर कटक (कडा) बनाया जाता है, उसमें पहला कुंडलरूप नष्ट हो जाता है, और दूसरा कटक (कडा) रूप पैदा होता है। लेकिन उन दोनों परिणामोंमे सोना तो वैसा का वैसाही रहता है। इसी दृष्टान्तसे सब वस्तु, पूर्वपरिणामको छोड नये नये परिणामोंमें दाखिलहोती हुई, सदातन चले आते (मृत्तिका वगैरह) द्रव्यको नहीं छोडते हैं; बस! इसी अनुभवसे, उत्पत्ति—विनाश और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त समस्त पदार्थ समझने चाहियें, और यही स्याद्वाद कहलाता है। कोई पामर लोग कहते हैं कि यह स्याद्वाद संशयरूप बन गया, क्यों कि एक ही वस्तुको सत् भी कहना और असत्भी कहना यही संदेहकी मर्यादा है, जबतक सत् और असत् इन दोनोंमेंसे एक (सत् वा असत्) निश्चित न बने, तबतक सत् असत् इन दोनों रूपसे एक वस्तुको समझना, यह सच्चा ज्ञान नहीं कहलाता। लेकिन यह समझना पामरोंका भ्रमरूप है, क्योंकि एकही वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व ये दोनों धर्म वास्तविक हैं। संशयतो वही कहलाता है कि 'यह पुरुष होगा वा वृक्ष होगा'? यानी पुरुषपन और वृक्षपन

इन दोनोंमेंसे एकका भी निश्चय नहीं होनेसे उक्त ज्ञान संशय कहलाता है। प्रकृतमें वस्तुमात्र, सत् रूपसे भी निश्चित है, और असत् रूपसे भी निश्चित है, जैसे अग्निमें अग्निपन और द्रव्यपनका ज्ञान संशय नहीं कहलाता है, वैसेही एकही वस्तुमें सत्पन और असत्पनका ज्ञान होना उसे कौन सशय कहेगा। जब एक ही पात्रमें कोई भाग उष्ण, और कोई भाग शीत मालूम पडनेसे एकही पदार्थमें भिन्नभिन्न प्रदेशद्वारा, शीत और उष्ण इन दोनों धर्मोंका रहना मजूर रक्खा जाता है, तो फिर एकही वस्तुमें भिन्नभिन्न अपेक्षाओंसे सत्त्व और असत्त्व इन दोनोंको माननेमें क्या हर्ज है ?।

क्या रघुनाथ शिरोमणि वगैरह पडितोंने, एक ही वृक्षमें, वृक्षके मूलको लेकर कपि (वदर) के सयोगका अभाव अथवा संयोगिका भेद, और शाखाको लेकर कपि सयोगकी विद्यमानता यानी सयोगिपना नहीं माना है ?। जब सयोगिपना और सयोगिका भेद इन दोनों विरुद्ध धर्मोंको, अनुभवसे एकही वृक्षमें सिद्ध रक्खा तो फिर सत्व और असत्व इन धर्मोंको परस्पर विरुद्ध क्यों समझना चाहिये ?, और एकही वस्तुमें उन्हें क्यों न मानना चाहिये ?।

क्या वस्तु केवल भावरूप सिद्ध हो सकती है ? हर्गिज नहीं, अगर केवलभावरूप ही वस्तु मानी जाय, तो एक घट वस्तु, पटरूप–हस्तिरूप—अश्वरूप हो जायगी। सर्व प्रकारसे भावरूप माननेमें, एक ही वस्तुको, विश्वरूप होनेका दोष कभी शान्त न होगा। इस लिये सब वस्तुएँ अपने रूपसे अर्थात् अपने द्रव्य क्षेत्रकाल और भावरूपसे सत्,और पररूपसे यानी परकीय द्रव्य-क्षेत्रकाल और भावरूपसे असत् माननी चाहियें। जैसेकि द्रव्यसे, घट पार्थिव रूपसे है मगर जलरूपसे नहीं है। क्षेत्रसे, अजमेरमें बना हुआ घट, अजमेरका कहलाता है, किंतु जोधपुरका नहीं। कालसे,

हेमंतऋतुमें बना हुआ घट, हैमन्तिक कहाता है, लेकिन वासन्तिक नहीं । भावसे, शुक्लघट शुक्ल है, परन्तु काला नहीं ।

पाठक मंडल ! इसका नाम स्याद्वाद है । स्याद्वादको माननेवाले जैनाचार्योंका, समस्त बौद्धादि दर्शनोंको स्याद्वादरूपी प्रचंड बाणोंसे परास्त करके त्रिलोकोमें फैलाया हुआ अपना प्रताप मशहूर है । दरअसलमें जैनोंके सिद्धान्त पूर्ण मजबूत—परमसत्य होनेसे, उनके उपर किसी दर्शनका आक्षेप सफल नहीं हुआ । जैनदर्शनका सिद्धांत यहाँ लेशमात्र यदि प्रकाश किया जाय, तौ भी यह प्रबंध मोटा हो जाता है, इसलिये संक्षेपसे समझना चाहिये कि जैनधर्ममें दो प्रकारके पदार्थ माने गये हैं—जीव, और अजीव । तथा विस्तरसे पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा, और मोक्ष, ये नवतत्त्व हैं ।

उनमें जीव पदार्थ,चैतन्य स्वरूप है । जीवके विषयमें प्रत्यक्षही प्रमाण मजबूत सबूत है । सब प्राणी सुख दुःखके अनुभवद्वारा जीवका प्रत्यक्ष करते हैं । वह जीव,अपने शरीर मात्रमें रहा हुआ है । शरीरसे बाहर जीवको माननेवाले (आत्माको व्यापक माननेवाले) लोगोंकी बडी भूल है । क्योंकि,आत्माके सुख-दुःख वगैरह गुण, शरीरहीमें मालूम पडते हैं । यह बात होही नहीं सकती कि-जिस वस्तुका धर्म,जिस जगहपर मालूम पडता है,वह वस्तु,उस जगहसे अन्य स्थलमें भी ठहर सके । दृष्टान्त—जैसे घट, उतनीही जगह पर रह सकता है कि जितनी जगह पर, घटके रूपादि गुण दिखाई देते हों; उसी रीतिसे आत्माके सुखादि गुण, जब शरीरही में प्रतीत होते हैं, तो फिर शरीरसे अन्यत्रभी आत्माको मानना यह भला ! भ्रम नहीं तो दूसरा क्या ? । जीव अनन्त हैं, उनमें भव्य जीवही मोक्षमें जा सकते हैं, अभव्य जीवोंके लिये संसार अनादि और अनंत है । भव्यत्व और अभव्यत्व यह आत्माका स्वाभाविक

धर्म विशेष है। भव्य जीव भी अनंत होनेसे, संसारके सब भव्य जीव, मोक्षमें जाने पर, ससार, भव्य जीवोंसे एकदम शून्य हो जायगा, ऐसी शका नहीं करनी चाहिये।

अपने २ किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फल भोगते हुए जीव, ससारचक्रमें, देव-मनुष्य-तिर्यञ्च और नरकगतिमें भ्रमण किया करते हैं।

अजीव पदार्थ पाच प्रकारका है। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय-काल और पुद्गलास्तिकाय। उनमें जड पदार्थ, और जीवोंको गमन करनेमें सहायता करनेवाला धर्मास्तिकाय है। और उनको, स्थिति करनेमें सहायता करनेवाला अधर्मास्तिकाय है। अवकाश देनेवाला आकाश पदार्थ प्रसिद्ध है। पदार्थोंके परिवर्त्तनमें हेतुभूत, काल पदार्थ मशहूर है। रूप, रस, गध, स्पर्श, और शब्द, जिसमें रहते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं। अतएव शब्दको आकाशका गुण माननेवाले लोगोंकी अल्प बुद्धि प्रकाशित होती है। जो वस्तु अत्यत परोक्ष है, उस वस्तुका धर्म, प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, शब्द यदि आकाशका गुण माना जाय तो आकाश अत्यत परोक्ष होनेसे, शब्दका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। हम नहीं समझते कि शब्दको आकाशका गुण माननेवालोंने, शब्दको परमाणुका गुण, क्यों नहीं माना होगा ?। शब्दको परमाणुका गुण माननेमें जो डर चमक रहा है, वह डर, उसको आकाशका गुण माननेमें क्या चला जायगा ? हर्गिज नहीं।

पुण्य प्रशस्त कर्म वर्गणाका नाम है। जिससे संसारकी सपत्तियाँ जीवको हासिल होती है।

पाप-अप्रशस्त कर्मवर्गणाका नाम है। जिससे ससारमें जीवको बडी विपत्ति उठानी पडती है।

आस्रव-शुभाशुभ कर्मोंको आत्मामें दाखिल होनेका दरवाजा है।

संवर—कर्मोंको रोकनेवाला एक आत्माका शुभ प्रयत्न है।

बंध-क्षीर और पानीके सम्बन्धके बराबर, आत्मामें और कर्मोंके संयोग होनेका नाम है।

निर्जरा—तपश्चर्यादिद्वारा कर्मोंके नाश करनेको कहते हैं।

मोक्ष-समस्त कर्मोंका बिलकुल अभाव होनेका नाम है। जिस वक्त आत्मा, समस्त कर्मोंसे बिलकुल रहित होता है। उसी वक्त आत्माकी ऊर्ध्व गति होती है, और लोकके अग्र भाग ऊपर जीव, अवस्थित रहता है। वही मुक्तिपुरी समझनी चाहिए। किन्हीं लोगोंका कहना होता है कि अगर समस्त कर्म बिलकुल नष्ट हो गये, तो फिर इह लोकमें या परलोकमें, वन्ध होनेका संभव है नहीं, अर्थात् अकर्मक जीव यहांही क्यों न रहे, ऊपर क्यों जाय ?। यदि कर्म कुछ अवशिष्ट रहा है, तो ऊपर जाने पर भी संसारयंत्र चलता ही रहेगा। मतलब यह है कि समस्त कर्मोंका विनाश होने पर, ऊर्ध्व गमन क्यों होना चाहिए ? । इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि जैसे एक कुम्भारने अपने हस्तदंडके प्रयोगसे, चक्रको चलाया, फिर वह कुंभार अपना हस्त दंडका प्रयोग नहीं करता है तब भी वह चक्र, बहुत काल तक चला करता है। वैसे ही कर्मके प्रभावसे घूमता हुआ आत्मा, कर्मके समूल नाश होने परभी, पूर्व वेगवशात् मुक्त दशामें ऊपर जाता ही है। और भी मुक्त जीवकी उर्ध्व गति होनेका प्रकार यह है कि जैसे एरंडकी सिंगका वन्ध विच्छेद करनेसे एरंड, एकदम ऊपर आ जाता है, वैसे ही कर्म वन्धका विच्छेद होने पर, मुक्त जीवकी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति प्रकट होती है।

मुक्तावस्थामें जीव, अनंत आनंदमें रमण किया करता है, वह आनंद,

इन्द्रियादिसे किया हुआ नहीं है, क्योंकि मुक्तजीव को,शरीर इन्द्रियादिकका बिलकुल अभाव ही हो जाता है,मगर आत्माका स्वाभाविक-वास्तविक सुखानंद मुक्तजीवको प्रकट होता है। वह आनंद, संसारमें कर्मोंसे दबा रहता है, इस लिये सांसारिक जीवोंके अनुभवमें नहीं आ सकता।अतएव परम आनंदके उद्देशसे मुमुक्षु लोग,संसारको छोडकर मुक्तिके साधनोंकी साधना करने लग जाते हैं, मोक्षमें यदि आनंद (सुख); नहीं होता तो कोई बुद्धिमान् पुरुष मुक्तिके लिये प्रवृत्ति नहीं करता। मगर सकडों बुद्धिमान लोग मुक्तिके लिये प्रवृत्ति करते तो हैं, अतः मुक्तिमें परमानंद मानना न्यायसिद्ध बात है। ज्ञान-सुख वगैरह आत्माके वास्तविक गुण हैं। लेकिन वे गुण संसार अवस्थामें दबे रहनेसे पूर्ण रूपसे प्रकट नहीं हो सकते। जो इन्द्रियादिसे सुख पैदा होता है, वह नैमित्तिक गुण समझना चाहिये, न कि आत्माका वास्तविक स्वाभाविक गुण।

दुःखाभाव ही मुक्तिका स्वरूप कहनेवाले पंडितोंके हिसाबसे मूर्छा वगैरह सांसारिक अवस्थाएं भी मुक्ति पदार्थ हो जायँगी। कहनेवाले लोग कहते हैं कि मुक्तिके सुखमें राग रखता हुआ पुरुष, कितनी भी मुक्ति साधनोंकी साधना करे,तौ भी मुक्तिको नहीं पा सकेगा, क्योंकि राग, मुक्तिको रोकनेवाला है, संसार-बन्धको पैदा करनेवाला है। बात तो ठीक है, परन्तु साथ साथ इतना भी समझना चाहिये, कि दुःखाभावरूप मुक्तिके लिये प्रयत्न करता हुआ पुरुष, दुःखका द्वेषी होनेसे कैसे मुक्तिको पावेगा ?। अगर कहोगे कि योग-ध्यानमें लीन रहा हुआ पुरुष, किसीके ऊपर द्वेष परिणाम नहीं रखता है, तो फिर योग-ध्यानमें लीन रहा हुआ पुरुष किसीके ऊपर राग नहीं रखता हुआ मुक्ति क्यों नहीं पावेगा ?। अतः मानना चाहिए कि त्रिलोकीमें चारों तरफसे सुरेन्द्र-नरेन्द्रोंका

इकट्ठा किया हुआ सुख, मुक्ति सुखके आगे बिन्दु भी नहीं है। पाठको! ये नव तत्त्व प्रकाशित हो गये, उनके ऊपर पक्का विश्वास रखना, उसे जैन शास्त्रकार सम्यग्दर्शन कहते हैं। और उनका यथार्थ परिचय करना, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। जैनदर्शनमें ज्ञानके पांच भेद बताये हैं-मतिज्ञान-श्रुतज्ञान–अवधिज्ञान-मनःपर्याय ज्ञान, और केवलज्ञान। इनमें पहिले दो ज्ञान दरअसलमें परोक्ष हैं। तो भी व्यवहारमें सच्ची प्रवृत्ति करानेसे चक्षुरादि जन्य ज्ञानोंको व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है। वह व्यावहारिक प्रत्यक्ष चार प्रकारका है, अवग्रह-ईहा-अवाय–धारणा। ये, मतिज्ञानमें दाखिल किये हैं। और अनुमान–स्मरण-प्रत्यभिज्ञान-तर्क ये भी मतिज्ञानके भेद समझने चाहियें। श्रुतज्ञानमें आगम प्रमाण दाखिल होता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रमाण दो प्रकारका है--प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष भी दो प्रकारका, सांव्यवहारिक—और पारमार्थिक। परोक्ष प्रमाण पांच प्रकारका है-स्मरण–प्रत्यभिज्ञान–तर्क-अनुमान और आगम। इनमें आगमको छोडकर सब परोक्ष प्रमाण, और अवग्रह-इहा-अवाय धारणा ये सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके चार भेद, मतिज्ञानमें दाखिल होते हैं-और श्रुतज्ञान, आगमरूप है। अवधिज्ञान-रूपी द्रव्योंको ग्रहण करनेवाला स्पष्ट वास्तविक प्रत्यक्ष है। मनके पर्यायोंको ग्रहण करने वाला मनःपर्याय ज्ञान, वास्तविक स्पष्ट प्रत्यक्ष है। और सर्वज्ञपन है दूसरा नाम जिसका, ऐसा केवलज्ञान, समस्त लोक-अलोकका युगपत् (एक कालमें–एक साथ) सदैव स्पष्ट प्रकाश किया करता है। इस विषयमें गंभीर विचारणा यदि करनी हो. तो यशोविजयजी गुरुदेवके बनाये हुए ग्रन्थोंको देखना चाहिये। और विशेषावश्यक टीका का अमृत रस पीना चाहिये। एवं नन्दि टीकाको निभालनमें लाना चाहिये।

जैनशास्त्रमें, नय सात प्रकारसे माना है। एक देशको ग्रहण करनेवाले, दूसरे अंशके साथ विरोध नहीं रखने वाले अभिप्राय विशेषको नय कहते हैं, उन सात नयोंके नाम—

नैगम संग्रह-व्यवहार- ऋजुसूत्र -शब्द -समभिरूढ- एवंभूत। इनमें, पहिले तीन द्रव्यार्थिक हैं। और पिछले चार पर्यायार्थिक हैं। और नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, ये चार अर्थनय कहलाते हैं। और आखिरके तीन, शब्दनय कहलाते हैं।

प्रमाण और नयका वाक्य, अपने विषयमें प्रवृत्त होता हुआ, विधि और प्रतिषेधसे, सप्तभङ्गीका अनुसरण करता है। देखिये सप्तभङ्गी—

'स्यादस्त्येव घटः' १ 'स्यान्नास्त्येव घटः' २ 'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घटः' ३ 'स्यादवक्तव्यमेव' ४ 'स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव' ५ 'स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव' ६ 'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव' ७

अर्थ—घट (वस्तुमात्र) अपने द्रव्यक्षेत्र काल और भावसे है (सत् है)१। और परकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नहीं है (असत् है) २। वस्तुमात्र, कथंचित् है, और कथंचित् नहीं है, यह क्रमसे विधि निषेध कल्पना ३। युगपत् (एकसाथ) विधि निषेधकी कल्पनासे, वस्तुमात्र कथंचित् अवक्तव्य है ४। विधि कल्पना और युगपत् विधि निषेध कल्पनासे, वस्तु कथंचित् सत्, कथंचित् अवक्तव्य कहलाती है ५। निषेध कल्पना और युगपत् विधि निषेध कल्पनासे, वस्तु कथंचित् असत्, कथंचित् अवक्तव्य कहलाती है ६। क्रमतः विधिनिषेध कल्पना तथा युगपत् विधिनिषेध कल्पनासे, वस्तु कथंचित् सत् कथंचित् असत् कथंचित् अवक्तव्य कहलाती है, ७। यह विषय, स्वाभाविक गंभीर दुर्गम है। दर्शन-शास्त्रोंके पारगामी

विद्वान् लोग भी इस विषयमें मुग्ध ही रहा करते हैं। जैनदर्शनकी प्रक्रियामें निपुणता रखनेवाले बुद्धिमान् लोग ही इस विषयकी कुछ खुशबू पा सकते हैं। वडे वडे शंकराचार्य वाचसपति वगैरह विद्वानोंका दिमाग इस विषयमें चक्कर खा गया है। और विद्वत्ताकी टांग उंची रखनेके लिये-सब दर्शनोंकी पंडिताईका दावा करनेके लिये, जैनोंकी सप्तभङ्गीको यथार्थ नहीं समझ कर, ऊटपटांग रीतिसे उसका खंडन करके अपनी प्रज्ञाका परिचय देनेमें उन लोगोंने कुछ बाकी नहीं रखी है। इस विषयका परिज्ञान करानेके लिये, जैनाचार्योंने वडे वडे महार्णव वनाकर विश्वमें विद्या अमृतका प्रवाह फैला दिया है। जैसे-स्याद्वादरत्नाकर ८४००० श्लोक प्रमाण वादि श्री देवसूरिका वनाया हुआ अपूर्ण विद्यमान है। सम्मति तर्क-विशेषावश्यकभाष्य टीका-अनेकान्तजयपताका-नयचक्र-नन्दी टीका तत्त्वार्थ टीका वगैरह औरभी वहुत समुद्र अव भी झलक रहे हैं। ऐसे ग्रंथोंको वरावर देखे विदुन स्याद्वाद सप्तभंगीका खंडन करनेवाला पुरुष, खुद आपही खंडित हो जाता है। खंडन करनेवाले लोग, रत्नका भी खंडन कर देते हैं, और काचकाभी खंडन कर देते हैं। मगर सुपण्डित लोग, रत्न—काचोंका भेद समझ कर रत्नकी रक्षा करते हैं। रत्नका पालन करते हैं। रत्नसे, अपनी आत्मामें आनन्दकी लहरी दाखिल कराते हैं। इस लिये महानुभावोंको समझना चाहिये कि, रत्न और काचका पहिले इम्तिहान करें, न कि भ्रान्त होकर काचकी जगह पर रत्नको फोड देवें और फैंक देवें।

पाठको ! जैनधर्मके मूल उपदेशक सर्वज्ञ तीर्थंकर देव हैं। वे लोग हरएक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें चौईस २ पैदा होते है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये कालचक्रके दो विभाग हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें भी हर एकके छः छः

विभाग हैं, जिन्हें आरा कहते हैं, अर्थात् छः आरे उत्सर्पिणीके, और छः आरे अवसर्पिणीके होते हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी यह सार्थक नाम है, उत्सर्पिणी काल उसे कहते हैं, जिसमें तरह तरहकी सपत्तियाँ बढती रहें, और अवसर्पिणी कालमें सपत्तिया घटती जाती है। उत्सर्पिणीके जो क्रमसे छः आरे हैं, उनसे विपरीत ढंगवाले छः आरे अवसर्पिणीके समझने चाहियें।

अवसर्पिणीकालमें पहला आरा चार कोडाकोडी सागरोपम, दूसरा तीन कोडाकोडी सागरोपम, तीसरा दो कोडाकोडी सागरोपम; चौथा कम ४२ हजार वर्ष, एक कोडाकोडी सागरोपम, पाचवा २१ हजार वर्ष, और छठवा आरा २१ हजार वर्षका है। इनसे उलटे उत्सर्पिणीके छ आरे समझिये!, अर्थात् उत्सर्पिणी कालका प्रथम आरा २१ हजार वर्ष, और दूसरा आरा २१ हजार वर्षका है, इस तरह शेष चार आरे भी समझ लीजिए!। इस हिसाबसे उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल, दोनों दश २ कोडाकोडी सागरोपम प्रमाणवाले हुए। ये दोनों मिलकर २० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाणवाला एक कालचक्र होता है। ऐसे कालचक्र अनन्त चले गये, और अनत चले जायँगे। कालकी कोई सीमा नहीं है।

वर्तमानमें पाचवा आरा, अवसर्पिणी कालका चल रहा है; जब अवसर्पिणीके चौथे आरेमें चरम तीर्थंकर परमात्मा महावीर देव काल कर गये, उस समयसे लेकर तीन वर्ष और साढे आठ महीने गुजरने पर पाचवा आरा शुरू हुआ। आज महावीर देवको काल किये २४३९ वर्ष बीत चुके, वर्तमानमें वीर सवत् २४४० है। पाचवे आरेका नाम है—दुषमा, क्योंकि यह आरा दुःखमय है। और इसके पहले जो चार आरे हो गये, उनके

नाम क्रमसे-सुषमा सुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, और दुषमा सुषमा है। और आगामी छठवे आरेका नाम है-दुषमाडुषमा, यानी वह आरा महा दुःखमय है। ये जो अवसार्पिणीके छः आरोंके नाम बताये, वेही नाम उलटेसे उत्सर्पिणीके छ आरोंके समझने चाहियें।

प्रति उत्सर्पिणी और प्रति अवसर्पिणीमें चौईस २ पैदा हुए तीर्थंकर देव, अनंत हो गये, और अनन्त होंगे। तीर्थंकर लोगभी पहले हमारी तरह संसारमें भ्रमण किया करते थे, मगर तीर्थंकरके भवके पहले तीसरे भवमें विशिष्ट आत्मबल जगा कर, सुपवित्र तपश्चरणद्वारा तीर्थंकर नामकर्म बांधकर, बीचमें स्वर्गका एक भव कर, मनुष्य लोकमें उत्तम कुलमें जन्म लेकर, परम पवित्र चारित्र-तपके तेजसे कर्मोंको दग्ध करनेके साथ केवलज्ञान (सर्वज्ञता) पा कर, और दुनियाँको तालीम—धर्मकी देके मोक्षमें जा पहुँचे।

तीर्थंकर देव ही धर्मके मूल उपदेशक होनेसे, इनके वचनमें अणुमात्रभी असत्यताका संभव नहीं हो सकता। राग, द्वेष, अथवा मोहसे असत्य वचन निकाले जाते हैं, जिनमें राग, द्वेष, और मोह, ये तीन दोष मूलसे उखड गये हैं, उनके उपदेशमें किसी प्रकार दोष रहनेकी सम्भावना नहीं की जा सकती।

जैन प्रवचनमें तीर्थंकरही ईश्वर शब्दसे व्यवहृत किये हैं। और तीर्थंकर तो इसी लिये कहाते हैं, कि वे साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका, इस चतुर्विध संघ (तीर्थ)की स्थापना (व्यवस्था) करते हैं। तीर्थंकरके भवमें तीर्थंकर लोग स्वयंबुद्ध हैं, अतएव वे किसीके उपदेशसे ज्ञान पाके, संसारको नहीं छोडते—दीक्षा नहीं लेते, किन्तु आप ही खुद स्वयंबुद्ध होनेसे समयपर विपुल साम्राज्यको

स्वतएव छोडके परमहंस—परम योगी बनते हैं । तीर्थंकरोंके उपदेश देनेकी भूमिका नाम है—समवसरण । वह समवसरण,इन्द्रोंकी आज्ञासे देवतालोग बडी अद्भुत रीतिसे एक योजन भूमिमें बना देते हैं, और उतनी जमीनमें कोडाकोडी प्राणी बडे मजेसे बैठकर ईश्वरकी अमृतसी वाणीका पान करते हैं । ईश्वरकी व्याख्यान परिषद्में इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र वगैरह, तमाम जगत्के नायक आते हैं । जन्मसे शत्रुता रखनेवाले जानवरभी उस समय परस्पर प्रेमी बनके सावधानतासे प्रभुका उपदेश सुनते हैं । पातीस गुणोंसे विभूषित तीर्थंकर देवकी देशनाको जानवर तकभी भलीभांती समझ जाते हैं । हाथमें चँवर उलारते इन्द्रोंसे सेवाते हुए तीर्थंकर भगवान्की मेघकी तरह गंभीर-ध्वनिको बारह पर्षदाएँ मयूरकी भांती बडे आनंदसे पीती हैं ।

इन्हीं (तीर्थंकरों)के चरणोंकी सेवासे अनंत महात्मा-लोग कर्मोंसे मुक्त हो गये-सर्वज्ञ बन गये, और मुक्तिमें जा पहुँचे । ये ही ईश्वर, धर्मके मूल-बीज हैं, धर्मके नायक हैं, धर्मके दाता हैं । इन्हींके उपदेशानुसार, महाप्राज्ञ, विशिष्ट लब्धिसपन्न, गणधर-महाराज, द्वादशागीकी रचना करते हैं । और उन्हीं शास्त्रोंके आधारसे उत्तरोत्तर पैदा हुए गीतार्थ-महर्षि, नये नये ग्रंथ बनाते हैं । कहिए ! सज्जनो ! धर्मका मूल कैसा मजबूत-प्रामाणिक है ? । कैसी सडकसे जैनधर्मका इस जमानेमें आना हुआ ? । ऐसी ही निर्मळ सीधी सडकसे आया हुआ धर्म, सत्यधर्म कहलाता है ।

उक्त द्वादशांगी (बारह अगों) मेंसे वर्तमानकालमें ग्यारहही मूल अग बाकी हैं, बारहवां दृष्टिवाद नामका अग विच्छिन्न हो गया है ।

सुनिये ! ग्यारह अगोंके नाम—

आचारांग १ सूत्रकृतांग २ स्थानांग ३ समवायांग ४ भगवती ५ ज्ञातधर्मकथा ६ उपासकदशांग ७ अंतकृत ८ अनुत्तरोपपातिका ९ प्रश्न व्याकरण १० विपाक ११

ये ग्यारह अंग साक्षात् गणधर महाराजके बनाये हुए हैं, और इनके सिवाय, बारह उपांग आदि ३४ सूत्र, जो वर्तमानमें मौजूद हैं, गणधरोंके अतिरिक्त और (तीर्थंकरके शिष्य-प्रशिष्य) महर्षिओंके बनाये हुए हैं। ये ४५ सूत्र वर्तमानमें जैन तत्त्वके मूल खजाने समझने चाहियें।

ये ही मूल आगम, मूल सिद्धांत और मूलसूत्र कहलाते हैं। इन सूत्रोंके ऊपर गीतार्थ ऋषिओंने चतुरंगी बनायी है– निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका। मूलसूत्र सहित ये पंचागी कहलाते हैं। इनके अनंतर ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर प्रखर विद्वान् आचार्य हुए, त्यों त्यों उनके द्वारा जैन साहित्यकी बहुत वृद्धि एवं तरक्की होती गई।

चोईसवां तीर्थंकर श्री महावीर परमात्माके ग्यारह गणधर हुए, जिनमें प्रथम श्री गौतम स्वामी, और प्रभुके पट्टधर पांचवां गणधर श्रीसुधर्मास्वामी हुए। वर्तमानमें जितने जैन मुनि हैं, वे सब सुधर्मास्वामीकी शिष्य सम्प्रदायमें हैं। सुधर्मास्वामीके मोक्षमें जाने बाद उनके पट्टधर श्री जम्बूस्वामी हुए। इनके मोक्ष जाने पर मोक्षका द्वार बंद हो गया, इनके अनंतर पंचम आरेकी सख्त गर्मीके सबबसे कोईभी महात्मा मोक्षमें नहीं जा सका, और नहीं जा सकता जम्बूस्वामीके शिष्यवर प्रभवस्वामी उनके पट्टधर शय्यंभवसूरि, उनके बाद यशोभद्र, संभूतिविजय, भद्रबाहु, तथा स्थूलभद्र हुए। जम्बूस्वामीके बाद ये छः महर्षि, श्रुत केवलि हुएं।

इसी प्रकार उत्तरोत्तर सुधर्मास्वामीकी शिष्यसंपदा, आज

तक लगातार चली आ रही है। ऐसा अविच्छिन्न धर्मका मूल अगर कहाँही पर पा सकते हैं, तो वह जैन सम्प्रदाय ही है। जैन जातिमें एकसे एक बढेचढे हजारों आचार्य—धुरधर विद्वान् होने परभी, किसी अर्हद् वचनमें, किन्हीं आचार्योंका परस्पर विरोध—झगडा नहीं हुआ, यही आर्हत-धर्मकी वज्रलेपागमान प्रामाणिकता-परमार्थ सत्यता झलकती है।

हमें निष्पक्षपातसे यह उद्घोष किये बिदुन नहीं रहा जाता कि जैन शास्त्रोंमें जैसा निष्पक्षपात बयान है, और उसको जैसी निष्पक्षपातरीतिसें जाहिरमें लानेवाले आचार्य हुए, वैसी निष्पक्षपातता,महावीरके शासनको छोड अन्यत्र कौन कहाँ पा सकता है? वैदिक मतमें, जैसे, बापका खडन बेटेने किया, गुरुके वचनका खडन चेलेने किया, वैसा उपद्रव. परमात्मा अर्हन् देवके प्रवचन-शासनमें, आजतक न हुआ और न सुना।

मध्यस्थ दिलसे देखते हुए हमें, दोनों जगह दो बातें अ-द्वितीय ही पायी जाती है—एक इधर अर्हन् देवका यथार्थ उपदेश, और उधर अन्य तीर्थिओंका असद् आग्रह।

प्रतिपक्षि विद्वानोंके समक्षमें भी जैनाचार्य, यह उदार-घोपणा करते आये हैं—अगर ईश्वरकी पहचान करनी हो, तो वीतराग ही को ईश्वर समझना चाहिये, सिवाय वीतराग, और कोई ईश्वर नहीं हो सकता। एव न्यायकी व्यवस्था भी, विना स्याद्वाद्-अनेकान्तवाद, और कोई नहीं है। इसी प्रधान विपयके हजारों ग्रन्थ बनाके, जैन आचार्योंने अपनी चमकीली विद्याकी रोशनी, चारों ओर छा दी है। और इसीसे हृदयमें चमत्कार पाये हुए अन्य विद्वानोंने भी, अपने ग्रन्थोंमें, जैनाचार्योंकी जो प्रशस्ति रेखाएँ अकितकी हैं, आजभी उन्हें, सब कोई खुले दिलसे पढ रहे हैं।

जैनशासनके प्रभावक—सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, अभयदेवसूरि,मल्लवादिसूरि, वादिवेताल-शान्तिसूरि, वादिदेवसूरि, कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, मलय-गिरि, मलधारिहेमचन्द्र, श्रीहीरविजयसूरि, श्रीयशोविजय उपाध्याय, वगैरह हजारों प्रचंड विद्वान् हुए। एकिले श्री हेमचन्द्राचार्यकी की हुई सवालाख श्लोक प्रमाण व्याकरण विषयक रचना अब भी असंपूर्ण मुद्रित–प्रसिद्ध है। इतना ही क्यों ?, न्याय,साहित्य, कोश, स्तुति, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, वगैरह तमाम विषयोंमेंभी उस आचार्यकी अद्वितीय पंडिताई, अन्य शास्त्रोंमें तथा वर्तमान जमानेमें मशहूर है।

वाचकगण ! पूर्व प्रबन्धसे सामान्यतया धर्मका अनादित्व सिद्ध हो चुका है, और जैनेतर धर्मोंके साथ जैनधर्मका मुकाबला भी कर चुके हैं, तो अब जैनधर्मके अनादित्व व पवित्रताके विषयमें क्या कोई अक्लमंद शंका कर सकता है ?, हर्गिज नहीं। मैं यह बात दृष्टिरागसे नहीं कहता हूं, परंतु वास्तविक जैनधर्मकी पवित्रता, परमसत्यता, और मोक्षकी साधकता, जैन शास्त्रोंको सुदृष्टिसे देखनेसे निश्चित होती है। यद्यपि "अपनी माताको डाकिनी कोई नहीं कहता" यह कहावत जगत्में मशहूर है, तौ भी मध्यस्थ–धर्मात्मा पुरुष इस कहावतका अनादर करते हुए अपनी डाकिनी माताको जरूर डाकिनी कहते हैं, और यह भी बात है कि अपनी स्वस्थ माताको स्वस्थ माता कहनेवाला पुरुष, आत्मश्लाघाका पातक नहीं उठा सकता, क्योंकि वस्तुके स्वरूप परिचयमें, वस्तुका वास्तविक हाल प्रकट करना, यह इन्साफसे खिलाफ नहीं है, उसी रीतिसे सत्यधर्मको सत्य कहनेवाला, सत्यधर्मका सत्कार करनेवाला, और सत्यधर्मकी वास्तविक तारीफ करनेवाला मनुष्य, अन्याय प्रवृत्ति नहीं करता

है, इसमें कौन क्या कहेगा ? । सत्य वस्तुका सत्यत्व प्रकाश करना, सत्य वस्तुको लोगोंसे ग्रहण करानेकी कोशिश करना यह तो सज्जनोंका परम कर्तव्य है ।

जैनधर्ममें जीव, ईश्वर, पुण्य, पाप, परलोक, मोक्ष,तपश्चर्या दान, दया, शील, अनुष्ठान, पवित्रता, प्रमाण, न्याय, युक्ति, तर्क, वगैरह सभी बातें जब भरी हैं, तो फिर किस बातसे जैनधर्मकी न्यूनता कही जा सकती है ? ।

देखिये ! जैनधर्मके कानून—

जैनधर्ममें मुख्यत्वेन धर्मके रास्ते, दो प्रकारके बताये हैं— एक साधुधर्म, दूसरा श्रावक धर्म । उनमें साधुधर्म, पांच महाव्रत रूप है—

सर्वथा (करना नहीं, कराना नहीं, और करने वालेको अनुमोदना नहीं) प्राणातिपात विरमण, यानी जीवोंकी हिंसासे हटना १ । मृषावाद विरमण यानी मिथ्या भाषणसे दूर रहना २ अदत्तादान विरमण अर्थात् नहीं दी हुयी वस्तुको नहीं उठाना ३ । मैथुनविरमण यानी समस्त स्त्रियोंके ऊपर माता अथवा बहिनपनकी बुद्धि रखना, अर्थात् बिलकुल ब्रह्मचर्य पालन करना ४ । और पाचवां महाव्रत परिग्रहविरमण यानी धन, धान्य, सोना, रूपा, वगैरह द्रव्यको बिलकुल नहीं रखना ५ ।

वर्तमान भारतवर्षमें सब धर्मवाले साधुलोगोंकी संख्या अगर गिनी जाय तो करीब ५६०००० होगी । मगर जैनेतर साधुओंकी दशा बहुत शोचनीय दिखाई देती है । जैनेतर साधुलोग, तमाखु, गांजा, भाग, वगैरह दुर्व्यसनोंमें इतने फँस गये है कि ज्ञान-ध्यान-सदाचारकी सडकसे बहुत दूर हट गये । साधु हो करके भी गाजा फूकना यह कितनी शरमकी बात ? । बतलाना

चाहिये, कौन धर्मशास्त्र, गृहस्थके लियेभी तमाखु-गांजा फूंकना, अनुचित-पाप जनक न फरमाता हो ? । गृहस्थोंके लिये भी गांजा फूंकना महापाप है तो साधुओंके लिये तो कहना ही क्या ? ।

स्त्रीके छोडने मात्रसे साधुधर्म नहीं मिल सकता, किंतु साधुके प्रतिष्ठित आचारोंके प्रतिपालनसे साधुपन मिला कहाता है ! बहुतेरे साधुओंकी शिथिलताने यहांतक अपना पद जमा लिया है कि वे लोग गृहस्थसे भी अधिक, सांसारिक उपाधिका भार शिर पर उठाये फिरते हैं । हाथी, घोडा, बगी, खेत, इमारत, खजाना वगैरह गृहस्थ उपाधिओंमें आकंठ डूबे हुये महंतसाधु, गृहस्थ पदसे कितनी उंची हदपर विराजते हैं. यह कहनेकी कोई जरूरत नहीं । संसारको छोड साधु वन गये, तौभी रूपचंदजी के फंदमें अगर फँसना हुआ, तो सोचो ! साधुपन रहा कहां ? दौलत रखने परभी अगर साधुत्व कायम रहता हो, तो. कहिये ! गृहस्थोंने क्या अपराध किया ? गृहस्थलोग स्त्रीके भोगी होनेसे अगर साधु न कहलाते हों तो साधुलोग भी,अगर धनके अनुचर बनेंगे तो साधु कैसे कहला सकेंगे ? । पैसा रखना और साधुपनका दावा करना यह बात तीनों कालमें नही हो सकती । वास्तवमें देखा जाय तो साधुको द्रव्यकी जरूरत होनी ही क्यों चाहिये ? क्या भिक्षासे साधुलोग अपना पेट पूरा नहीं भर सकते ? क्या साधुओंको पहिननेके लिये कपडे नहीं मिल सकते ?, जब खानेके लियें भोजन, और पहिननेके लिये कपडे जगह जगह साधुओंके लिये तय्यार हैं,तो फिर किस बात के लिये साधुओंको द्रव्यकी आवश्यक्ता पडती होगी ? । शास्त्रकारोंका यह फरमाना है कि भिक्षासे अपने शरीरकी यात्रा करते हुए साधु, द्रव्यके संगसे सर्वथा दूर रहें ।

हमारे अनुभवसे, और शास्त्राक वचनसें यह बात स्पष्ट है कि साधुको द्रव्यका जो सग्रह करना है सो साधुके हृदय-मदिरमें गुप्त बैठे हुए कामदेवकी सत्ताको यथार्थ प्रसिद्ध ही करना है। नहीं तो बतलाना चाहिये—साधुके लिये द्रव्य रखनेका और क्या प्रयोजन हो सकता है ? । साधु, कैसाभी तपस्वी-ध्यानी-क्रियावान् क्यों न हो ? मगर वह यदि द्रव्यके परिग्रहमें फँसा है, तो उसे साधु कौन कह सकता है ? । हम नहीं समझते कि द्रव्यके ऊपर ममता रहते परभी ससारका परित्याग-दीक्षाग्रहण, करनेवाले क्यों करते होंगे ? । अगर साधु हो करके भी द्रव्य रखना मजूर समझते हैं, तो फिर किस लिये साधु होते होंगे ? । ससारहीमें (गृहस्थरूपसे) क्यों नहीं बैठे रहते ? । पघडी उतारके साधुके रंगित वस्त्र पहिनने मात्रसे साधुपन नहीं मिल सकता। हम तो यह उद्घोषणा करते हैं—साधु हो करके यदि द्रव्य रखना मजूर था, तो गृहस्थही रहना अच्छा था, ताकि गृहस्थ धर्मका पालन तो बन सकता। साधु बनके जो द्रव्य रखता है,वह साधुभी नहीं और गृहस्थभी नहीं है, किंतु उसके लिये कुछ घोडे और कुछ गदहेके स्वरूपवाले खचरकी उपमा देनी समुचित समझी जाती है। समझो! कि बडे भाग्यके अभ्युदयसे साधुत्व पाया जाता है। वे ही साधुपन लेते हैं, जिनकी तकदीरका सितारा चमकता हो, फिरभी (साधु होके भी) यदि द्रव्यका संग्रह करनेकी दुर्बुद्धि पैदा हो—द्रव्य इकठ्ठ करनेकी कोशिश की जाय, तो हाय! इससे ज्यादह क्या अफसोस बतावें ?, हाथमें आया चिंतामणि नहीं सम्हाला।

साधुका एकही नियम तोडने परभी दुर्गति पाना शास्त्रकार-भगवान् फरमाते हैं,तो सोचो! कि द्रव्य पिशाचको तमाम व्रतोंका भोग देनेवाले साधुकी कौनसी गति होगी ?।

हमारा यह साफ मानना है कि किसी भी मजहबवाला-किसीभी धर्मवाला साधु क्यों न हो, मगर वह यदि द्रव्यका अनुचर नहीं है, तो उसकी तारीफ है, अखंड मंडलाकारको भजनेवाले लोग अगर रूपचंदजीको नहीं भजते हैं, तो वे शुद्ध धर्मोपदेशके कार्यसे, गुरु बराबर कहला सकते हैं। गुरुके गुण बिना योंही गुरुपनकी गद्दी उठा लेनी यह तो चोरीका दोष है। धर्मके उपदेश करनेवाले और उक्त पाँच महाव्रत पालनेवाले ही साधुलोग सच्चे गुरु हो सकते हैं।

वर्तमान (कलियुग) जमानेमें भी जैन मुनिलोग आचार-विचारसे अन्य साधुओंको अपेक्षा कितने बढे चढे हैं, यह अक्लमंदोंसे छिपा नहीं है।

सूक्ष्म, स्थूल जीवोंकी दया करनेवाले, सत्य--मधुर भाषण करनेवाले। घर घर जाके भिक्षा लेनेवाले, अनुचित लोभ-तृष्णा नहीं रखनेवाले, धातुके पात्रमें तथा गृहस्थके घर पर नहीं जिमनेवाले, सौंफ, इलायची लोंग तकका भी संग्रह नहीं करनेवाले, अभक्ष्यका भक्षण नहीं करने वाले, द्रव्यको बिलकुल नहीं रखने वाले,पैदल गमन करने वाले,स्त्रीका स्पर्श मात्रभी नहीं करने वाले अपराधी पुरुषको प्रायः क्रोधातुर होके शाप नहीं देनेवाले, उचित नम्रतामें रहनेवाले, अपनी क्रियामें यथाशक्ति हमेशा तत्पर रहने वाले, वर्षाऋतुमें देशाटन नहीं करने वाले, आगका स्पर्श भी नहीं करने वाले, कच्चे पानीका व्यवहार नहीं करने वाले, हरी (सचित्त) वनस्पतिको नहीं छुनेवाले; अपनी प्रज्ञानुसार जैनागमोंको जानने वाले, परोपकार---वैराग्यगर्भित सरल उपदेश देने वाले. ईश्वरके प्रणिधानमें रमने वाले, जैन साधु लोग, साधुके आचारमें, कहांतक बढे हैं, यह विशेष कहनेकी कोई जरूरत नहीं। ऐसे महात्मा, शांत, दांत, त्यागी, वैरागी, ज्ञानी, परोपकारी,

विवेकी, लोग यदि गुरु नहीं बनेंगे, तो क्या दुरात्मा, क्रोधी, विषयी, भोगी, रागी, अज्ञानी, परापकारी, स्वार्थी लोग, गुरु बन सकेंगे ? ।

सज्जनो! सोचने पर तत्वज्ञान होता है, मगर सोचना बडा कठिन है । गुरुपन अथवा साधुपन कैसा होना चाहिये? इस बातको सोचो ! सोचने पर पुख्ता विश्वास हो सकता है कि वर्तमान कलिकालमें भी साधुपनकी उच्च कोटीमें अगर किसीने उच्च पद पाया है, तो जैन मुनिगण है। अलबत्ते जैन प्रजामें वाजे यतिलोग भ्रष्टाचारी है, और मुँहपर पट्टी बाधनेवाले ढूंढक, तेरापथी लोग, असदाचारी तथा महा गन्दे रहते हैं. मगर यहाँ उनकी बात नहीं है, क्योंकि वे लोग साधुपदसे बाहर है। परमात्माके शासनके प्रेमी, शुद्ध श्रध्दालु, शुद्ध उपदेशक यतिलोग, फिरभी जैनधर्मके मडलमें बराबर दाखिल है, मगर ढूढक और तेरापथी साधु लोग, उत्सूत्र प्रलापी होनेसे शासनकी निन्दाका पातक उठाते हुए, पहिले समकीतहीसे जब बाहर है, तो जैनधर्मी होनेकी तो बातही कहा रही ? । जैन नामके व्यवहार मात्रसे जैनधर्मी नहीं कहला सकते; यों तो जैन नामका व्यवहार, शिर पर उठाये हजारोंही मजहब क्यों न निकलें ?, मगर प्रकृतमें जैनधर्म शब्दसे जो बात अभिमत है, वह बात हुए विदुन जो जैनधर्मी होना है सो मानो ! इन्द्रका ऐश्वर्य न होने परभी दरिद्र मनुष्यको, इन्द्र नामसे इन्द्र होना है, वह दरिद्र पुरुष नाम मात्रसे इन्द्र भलेही रहो, मगर वास्तवमें प्रसिद्ध अर्थके अनुसार, इन्द्र, नहीं हो सकता, वैसेही जैन नामको लिये फिरे हजारों मजहब, खरोद्घोषणसे शोर क्यों न मचा दें, मगर वास्तवमें प्रसिद्ध अर्थके अनुसार वे जैनधर्मी कभी नहीं हो सकते। यह बात आगे विशेष खुल जायगी ।

महानुभावो ! कोई साधु भ्रष्ट हो जाय, अथवा अपने (साधुके) आचारोंसे बिलकुल पतित हो जाय, तो उसकी बात यहां नहीं है, मगर जैन साधु जातिका व्यवहार देखना चाहिये । वस ! हो गया पहिला साधु धर्म ।
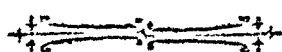
अब दूसरा श्रावक [गृहस्थ] धर्म-

गृहस्थ धर्मकी योग्यता (लयाकत) तबही हो सकती है, जब कि ३५ गुण प्राप्त हो जायँ । पांतीस गुणोंका विवेचन योगशास्त्र वगैरह ग्रन्थोंमें अच्छी तरह किया है, मगर यहां ग्रन्थ गौरवके डरके मारे नाम मात्र पांतीस गुण बता देते हैं—

न्याय (नीति)से धन पैदा करना १। शिष्टाचारोंकी तारीफ करना २ । अन्य गोत्रमें पैदा हुए तथा समान कुल और आचार वालेके साथ विवाह करना ३ । पापोंसे डरपोक रहना ४ । देशके व्यवहार मुताबिक चलना ५ । किसीकीभी निन्दा न करना ६ । अति प्रकट नहीं, और बहुत गुप्त नहीं, ऐसे स्थानमें (जहां उत्तम पडोसका संग हो) बहुत दरवाजे रहित घर बनाना ७ । सज्जनोंके साथ संग करना ८ । मातापिताकी सेवा करना ९। उपद्रवके स्थानको छोड देना १०। निन्दित कर्मोंमें प्रवृत्ति न करनी ११। आमदनीके अनुसार व्यय (खर्च) करना १२ । दौलतके प्रमाणमें वेष रखना १३ । बुद्धिके *आठ गुण प्राप्त करने १४ । हमेशा व्याख्यान, धर्मशास्त्र सुनना १५ । अजीर्ण दशामें नहीं खाना १६ । समय पर प्रकृतिके मुआफिक भोजन करना १७ । परस्पर

---

*शुश्रूषा १ श्रवण २ ग्रहण ३ धारण ४ ऊह ५ अपोह ६ अर्थज्ञान ७ और तत्त्वज्ञान, ये आठ, बुद्धिके गुण हैं ।

वाधा रहित तीन (धर्म, अर्थ, और काम) वर्ग पालने १८ । उचित रीतिसे, दीन–कगाल-रक तथा अतिथि, एव मुनिजनोंकी प्रतिपत्ति (भोजन—वस्त्रदान आदि) करना १९ । हमेशा उदार दिल रखना, यानी कदापि दुराग्रह नही करना २० । गुणोंका पक्षपाती वनना २१ । निषिद्ध देश और निषिद्ध कालमें चर्या (गमनादि) न करना २२ । वलावलका परिज्ञान करना २३। तपस्वी, महात्मा, ज्ञानवृध्द लोगोंकी पूजा करना २४ । नौंकर, सेवक खिदमतगार गुलामका पालन–पोषण करना २५ । दीर्घ (लवी) नजरसे विचार करना २६ । विशेष रूपसे अपने चरित्र-के ऊपर खयाल रखना २७ । उपकारीके उपकारको याद रखना २८ । लोकप्रिय होना २९ । लज्जालु होना ३० । दयालु होना ३१ । प्रसन्न रहना ३२ । परोपकारका स्वभाव रखना ३३। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, और हर्ष, इन छः अन्तरग (आत्माके–भीतरके) शत्रुओंका सहार करनेकी कोशिश करते रहना ३४ । इन्द्रीयोंके परवश न होना ३५।

ये ३५ गुण पाने पर मनुष्य, श्रावक—गृहस्थ धर्मकी ल्याकत हांसिल करता है । गृहस्थ धर्म कहो! वा श्रावक धर्म कहो! मतलव एक ही है । श्रावक शब्दकी व्युत्पत्ति है—शृणोति हित-शास्त्रमिति श्रावकः, अर्थात् हितकारि शास्त्रको सुननेवाला, श्रावक कहाता है, यह, व्युत्पत्ति मात्र है, श्रावक शब्दका प्रवृत्ति निमित्त तो, समकीत मूल, वारह व्रत अथवा कोईभी व्रत है ।

श्रावक धर्म–बारह व्रत, ये हैं—

स्थूल प्राणातिपात विरमण १। स्थूल मृषावाद विरमण २। स्थूल अदत्तादान विरमण ३। स्थूल मैथुन विरमण ४। स्थूल परिग्रह विरमण ५। (ये, पांच अणुव्रत)।

दिग् विरति ६। भोगोपभोग परिमाण ७। अनर्थदंड विरमण ८। (ये तीन गुणव्रत)।

सामायिक व्रत ९। देशावकाशिक १०। पौषध ११। अतिथिसंविभाग १२। (ये, चार शिक्षाव्रत)

अर्थः—गृहस्थोंको सर्व प्रकारेण जीवरक्षा होनी बहुत कठिन है। पुत्र, मित्र, कलत्र, बन्धुवर्ग, स्थावर–जंगम परिग्रह वगैरहमें फँसा हुआ श्रावक, सर्व प्रकारेण जीव–रक्षा नहीं कर सकता तौभी शास्त्रकारोंका यह फरमाना है कि गृहस्थ लोग भी गृहस्थ धर्मके मुताबिक अवश्य जीवदया पालें, यानी गृहस्थोंको चाहिये कि निरपराधी दो, तीन, चार, और पांच इन्द्रियवाले जीवोंकी रक्षाके लिये बराबर ध्यान देते रहें। यद्यपि, घर दुकान वगैरह बनवानेमें, तथा और भी बहुत आरंभ कार्योंमें त्रस (दो, तीन, चार, और पांच इन्द्रियवाले) जीवोंकीभी हिंसा होनेका पूरा संभव है, तथापि "जीवोंको मारूं" ऐसी बुद्धि रखकर जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। अलबत्ते राजा महाराजा लोग, दुश्मनको शिक्षा देते ही हैं, और युद्धमें हजारों मनुष्य, कतल हो जाते हैं, अगर शत्रुके सामने युद्ध न किया जाय, तो राजा लोगोंसे प्रजाका प्रतिपालन नहीं हो सकेगा, उलटा राजाओंके शिरपर प्रजाके क्लेश होनेका पातक आ पडेगा, इसलिये अपराधी शत्रुकी दूसरी बात है, मगर यह बात याद रहे कि निरपराधी जीवोंको संकल्पसे नहीं मारना चाहिये।

कितनेही गवाँर लोग, सांप बिच्छू वगैरह जहरसे भरे हुए जीवोंको देखतेही मारनेकी तय्यारी करते है। मगर याद रखो! कि यह बडा पाप है। अपना पराक्रम तुल्य बलवालोंके साथ फैलाना चाहिये, दुर्बलोंके आगे शौर्य प्रकट करता हुआ आदमी दुर्बलही कहाता है। हम नहीं समझते, कि काटनेवाले जहरी जीवोंको, मारनेवाले लोग, क्या समझकर मारते होंगे ? क्या उन्हें एकदम देशसे निकालनेके लिये ?, क्या मारनेसे उनका देशनिकाल हो सकता है ?, बतलाना चाहिये! उन्हें देशनिकालदेनेका अधिकार किसने किसको सौंपा है ?। याद रखो! कि जिसदेशमें जहरी जीवोंका मारना ज्यादह होता है, उस देशमें उनकी उत्पत्ति ज्यादह हुआ करती है। सृष्टिवादके हिसाबसे जब सब प्राणी ईश्वरके बनाये हुए हैं, तो फिर कौन किसे मार सकता है। एक ईश्वरसे उत्पन्न हुए सभी प्राणी जब भ्राता (भाई) तुल्य हैं, तो उचित नहीं है कि कोई किसे मारे। ईश्वरकी दी हुई चीजको वे प्रयोजन (फिजूल) खींच लेना, अर्थात् दुर्बल जीवोंकी जान निकाल लेनी, यह साफ इरादापूर्वक ईश्वरका गुनहगार होना नहीं है तो क्या है ?।

“ जीवो जीवस्य भक्षणम् ” अर्थात् जीव, जीवका भक्षण है, इस बातको पकडे हुए भी दुराग्रही लोग, भक्षणके अयोग्य जहरी जीवोंको क्यों मारें ?। यदि पीडा—तकलीफ देनेसे उनको मारना मुनासिब समझा जाय, तो यह भी बडी भूल है, क्योंकि वे जीव, यदि समझपूर्वक काटते हैं, तो समझिये ! कि उनका अपराध, किसी न किसी वक्त पर, जिसको काटा है, उसने जरूर किया होगा, वरना औरोंको छोड अमुकही आदमीको, समझपूर्वक वे कैसे काट सकें ?। अगर बिना समझ, योंही संयोगवशात् जहरी जीवोंके तरफसे किसी आदमीको तकलीफ होवे, तौभी उन

जीवोंको मारना उस आदमीके लिये वडी मूर्खताको जाहिर करता है, क्योंकि विना इरादे किसीकी तरफसे किसीको अगर कुछ कष्ट पहुँचे, तो इसका प्रत्यपकार करना इन्साफसे विरुद्ध है। क्या पत्थरसे शिर फुटे हुए आदमी, पत्थरके ऊपर द्वेष करते हैं। पत्थरका प्रत्युपकार करनेके लिये—तोडने—फोडनेके लिये पत्थरके साथ युद्ध करते है ? हर्गिज नहीं। अगर कोइ पत्थर पर द्वेष करे, तो वह आदमी ही नहीं, गदहा है।

इस लिये दोनों प्रकारसे (समझपूर्वक वा योंही संयोगवशात्) काटनेवाले जहरी जीव, हमारे मारनेके काविल नहीं हैं। वेशक! उन्हें मारना तवही उचित हो सकता है, जव कि एक जीवको मारनेसे दूसरा जीव समझ जाय—शिक्षा पा सके, और काटनेका स्वभाव छोड दे। मगर यह वात देखनेमें नहीं आतो, तो फिर किस उद्देशसे जहरी जीवोंको मारा जाय ?। समझिये ! काट गये जीवको मारनेसे क्या नतीजा निकालोगे !, कुछ भी नतीजा अगर नहीं निकल सकता, तो फिजूल दूसरे दुर्वलोंकी जान निकालनी, यह वाह्यातपन नहीं तो और क्या ?।

वास्तवमें—न्यायकी नजरसे तो सृष्टिका निर्माता (वनानेवाला) कोई भी नहीं है, यानी यह जगत् ईश्वरका रचा हुआ नहीं है। सभी प्राणी निज निज कर्मके प्रभावसे विविध शरीरको लेते हुए संसारवनमें घूमा करते है, इसलिये हमें चाहिये कि वडे जीवोंके ऊपर दया दृष्टि रखा करें। अपराधी भी उन्हींको कष्ट देना अनुचित नहीं समझा जाता है कि जिससे आवश्यक प्रतिफल निकल सकता हो, मगर जानवरोंका वध करनेसे तो कुछभी प्रतिफल दिखाई नहीं देता, तो फिर, उनकी तरफसे अपनेको कुछ कष्ट भी क्यों न पहुँचे ?, उन्हें क्यों मारना चाहिये ?।

निरपराधी पशुओंको मारना तो राक्षस कर्म है,' इसमें कहना ही क्या ? । न जाने भारत माताकी तकदीरके सितारे पर किस दुर्भाग्य-राहुका आक्रमण हुआ है कि पहले जमानेमें, जो बात नहीं थी, जो घोर कर्म हम नहीं सुनते, उस घोर कर्मका प्रचार, वर्तमान जमानेमें अस्खलित वह रहा है। प्रतिदिन भारत-भूमिके छोटे बेटे (जानवर-पशु) कितने कतल किये जाते हैं, इसका खयाल करने पर, यह नहीं कह सकते कि भविष्यमें भारत संतानोंके लिये शारीरिक, सामाजिक, और धार्मिक संपत्तिकी झलक, जो कुछ इस वक्त है, उससे कम होती हुई कितने हिस्सेमें जाके ठहरेगी ? ।

बहुतसे लोगोंका कहना होता है कि जैनियोंने दया दया पुकारके सारा देश लूटा दिया, पर यह बात गलत है, दयादेवीका सत्कार करनेसे देश नहीं लूटा जाता, देश, हिंसाहीसे लूटाता है; पहले जमानेमें अनाज,घी,दूध वगैरह चीजें कितनी सस्ती मिलतीथीं, बतलाइए ! आज कितने हैं उन्हें सुखसे भोगनेवाले, हमारे दौलतमद भाई साहब, गद्दी, तकिये पर चिपक गये हुए निश्चिंत आनद भोगते हैं, परंतु भारतदेवीकी प्रजा-हमारे बन्धुओंकी क्या दशा हो रही है, इसका तो खयाल ही कौन करे ? इतनी दरिद्रता, इतना दुर्भाग्य, भारतमें कहाँसे, किस प्रकार, और कब पैठा ?, इसका विचार करने पर यही स्फुरण होता है कि नीति विरुद्ध, धर्म विरुद्ध प्रवृत्तिका यह जुल्म है, जबसे निःसार साहसिक्य, और तामस्मिक प्रकृति ने अपना पद, भारतमाताके शिरपर पसारा तबहीसे हमारा देश, कगाल दशा पर आया है। जैनियोंके जितने धर्मशास्त्र सम्मत आचार हैं, वे परलोकहीके सुधार करनेमें शामिल हैं, यह नहीं, बल्कि शारीरिक, सामाजिक और दैशिक अभ्युदयको भी बढानेमें, बराबर कार्मण मन्त्र प्रयोग हैं। खयाल रहे, जैनियोंकी दया

वगैरह सभी प्रवृत्तियाँ विवेक युक्त हैं, क्या पहले जैनी राजा कोई हुआही नही?, अथवा तो उसने राज्य प्रतिपालन निमित्त—प्रजा संरक्षण निमित्त, शत्रुके साथ रण समारोहमें डर खाया--संकोच खाया?, नहीं, अपार कोडाकोडी वर्षोंसे भरतचक्रवर्ति, बाहुबलजी, सगरचक्रवर्ती वगैरह बहुत जैनी राजा हुए, जिन्होंने साठ हजार वर्षतक, षट् खंड—भरतक्षेत्रको साधनेके लिये मुसाफिरी की, और वर्षोंके वर्षों तक, बडा भयङ्कर युद्ध मचाया; इतनी दूरका क्या काम?, नजदीकहीका खयाल करें, कृष्ण वासुदेव, श्रेणिकराजा, कुमारपाल राजा वगैरह हजारों राजाओंने, प्रजा संरक्षण निमित्त, शत्रुओंके साथ बराबर रणसंग्रामका सामना किया, जो कि जैनी परम धर्मात्मा थे, मगर खयाल रहे कि फिजूल झगडा रगडा-ना, व्यर्थ फिसाद बढाना, यह अच्छा नहीं, और इसीका, वर्त-मानमें जो कुछ हम सह रहे हैं, प्रतिफल है, इस लिये गृहस्थलोग, गृहस्थ धर्म, और साधुजन साधुधर्मके मुताबिक अवश्य दया पा-लते रहें; हरएक आरम्भके काममें, यतना—उपयोग पूर्वक प्रवृत्ति करना, यह दया देवीकी अव्वल उपासना है, विना दामका यह धर्म, किस सज्जनको न रुचेगा?, बैठो, उठो, सोओ, खाओ, पीओ, चलो. कोई भी काम करो, पर कोई जीव, सूक्ष्म वा बडा, मरने न पावे, इसका खयाल जरूर रखना चाहिये, ऐसी महा मङ्गलमयी महा कल्याण करी दया पालनेमें, जब कुछभी शारी-रिक परिश्रम उठाना नहीं पडता, और फूटी पाईका खर्चभी नहीं होता, तो फिर इस व्रतके आदर करनेमें उदासीन क्यों होना चाहिये, धर्ममाता--दयाके अङ्गोंकी परिचर्या कर धर्मात्मा क्यों न होना चाहिये?, क्या फिर ऐसी धर्म सामग्री मिलनी आप सुलभ समझते हैं?, क्या धर्म विनाभी भविष्यमें सुख सम्पदा-की प्राप्तिके मजबूत विश्वासमें आप झुल रहे हैं, अगर यही बात

हो तो बतलाइए ! धर्म से सुख पैदा होता है, या पापसे ?, अथवा स्वाभाविक ही ? । पाप से सुख पैदा होना, कोई, गदहा-तक भी नहीं मान सकता, अन्यथा सज्जन लोगोंका नरकमें और दुर्जनोंका स्वर्गमें जाना कौन रोकेगा ? । मार पीट करना, बदमाशी करना, दगाबाज करना, येही धर्मकी रूप रेखाए किससे आलिखित न हो सकेंगी, अर्थात ससार भाग, मृषावाद, बद-माशी वगैरह अनायास सुगम प्रवृत्तियाँ ही अगर. पुण्यमें यानी सुख उपार्जन में शामिल हैं, तो इस सुख मार्ग में किसका स-चरना दुर्घट होगा, किस आदमी को, ये कर्म, दुष्कर होंगे ?, ज ब, भूलसे भी ऐसे कामोंमें जीवोंकी शीघ्रही प्रवृत्ति हुआ करती सबको विदित है, तो कहिये ! नरक गतिको फिर कौन सम्हा लगा, सभी स्वर्गमें क्यों दाखिल न हो सकेंगे ? ।

स्वभावसे सुख दुःखका होना तो कौन महामति मान सकता है ? नियम सिवाय, सुख दु.खकी व्यवस्था, जो सभीको अनुभव सिद्ध है, कभी नहीं हो सकती, यह तो पागल तक भी समझेगा कि " सुख प्रिय है, सुख हमेशा मिलता रहे, दुःख अ-निष्ट है, दुःखका सयोग कभी न हो " जब यही बात है, और सारी दुनियाका व्यवहार चक्र, इसी लिये चलता है, तो भला! यह कौन कह सकता है, कि योंही विना नियम, अव्यवस्थित सु-ख-दुःखका सयोग होता है हम पूछते हैं कि जो आदमी सु-खी है, वह सुखी ही क्यों ? दुःखी क्यों न हुआ ?, और जो बेचारा दु.खी प्राणी है, वह सुखीही क्यों न हुआ, इसकी वजह क्या, कि इसीको सुख, और इसीको दुःख, दोनों पुरुष एक ही मुहूर्तमें एक ही योगमें, पैसा पैदा करनेका उद्योग करते हैं मगर, एकको पैसा मिल जाता है, जब दूसरा ठनठपाल सा रह-ता है, इसका कारण क्या ? । गदहा, चूहा, बिल्ली, कुत्ता, गाय,

भैंस वगैरह जानवर, जानवर क्यों हुए, आदमी ही क्यों न बने, आदमी, आदमी ही क्यों बने, जानवर क्यों न हुए?, ईश्वरकी मौज कहोगे, तो हम पूछते हैं कि विना ही अपराध, जीवोंको ईश्वरने जानवर बनाया, या कुछ अपराध समझ कर?, अगर विना ही अपराध, ईश्वरने जीवोंको जानवर बना दिया, तो यह बडा जुल्म, विना अपराध दुःख देना, यह किस सृष्टिका कानून ईश्वरने अपने दफतरमें आंक दिया, यह तो सिर्फ मुख पुराणकी गप्प है। कुछ अपराधसे प्राणियोंको जानवर बनाया अगर कहोगे, तो साथ साथ यह भी जरा सा कह दें कि किस वातके अपराधसे?, और वह अपराध, जानवर ही जीवोंने किया, और दूसरे मनुष्य जीवोंने क्यों न किया?। और भी अपराध करनेको बुद्धि, जीवोंको ईश्वरकी तरफसे मिली थी, या जीवोंमें यों ही जाग उठी थी?, अव्वल तो ऐसी, अपराध अथवा पाप करनेकी बुद्धिको, इश्वरको चाहिये कि वह हटाता रहे, बुरी बुद्धिका जन्म किसी प्राणीमें न होने दे, जब ईश्वर, सुख दुःख-देनेके व्यवसायमें पंडिताई चलाता रहता है, तो फिर यह ताकत ईश्वरमें नहीं है कि लोगोंकी दुर्बुद्धिको पैदा होती हुई रोक दे?, पाप करते हुए पुरुष को, ईश्वर अगर देख ही रहा है, और अनंत शक्ति धारी है, तो फिर, उसे पाप कर्मसे क्यों न हटाता?, क्या पाप कर्म कराके जीवोंको शिक्षा देना ईश्वर उचित समझता है? यदि यही वात हो, तो ईश्वर महा अधम ठहरेगा, यह किसके घरका न्याय कि जानते-देखते हुए भी शक्तिमंतको, आदमीसे पापकर्म बंद न करवाना, जान बुझके उसे पाप-कर्म करने देना, और पीछेसे उसे उसके पापका फल देना। राजा महाराजा लोगोंको तो मालूम न रहनेसे चोरी-वदमाशी करते हुए, लोगोंसे बुरा कर्म छोडवाना नहीं हो सकता, आखिरमें मालूम पडने पर,

चोरोंको राजा लोग शिक्षा देते हैं। चोरीके वक्तहीमें अगर चौर, राजा या उसके अनुचरोंकी नजरमें पड जाय तो, उसी वक्त उसे पकडेगा। मगर बडा ताज्जुब है, कि ईश्वरको तो जब त्रिलोकीकी त्रिकालकी सभी बातें मालूम है, और अनन्त शक्तिमान् है, तो फिर पापकर्म करनेके पहलेही पाप करने वालेको पापमें क्यों नहीं रोकता? यह तो वही बात हुई कि कुएँमें गिरनेकी तय्यारीमें पहुँचे हुए अंधे शख्सको, उसरही खडा हुआ देखता आदमी न बचावे, तो जैसा यह आदमी अधम कहाता है, वैसा ही ईश्वर भी क्यों अधम न कहावेगा? इस लिये कर्म-राजासे फिरते हुए संसारचक्रमें, ईश्वर, अपना हाथ, जरा भी नहीं डाल सकता, यह बात आगे दूर जाके विशेष खोल देंगे। इस लिये धर्म ही से सुख ही पैदा होता है, यह निःसन्देह सिद्धान्त अपनी आत्मामें पक्का जचा कर अव्वल धर्म, अहिंसा-दया पालनी चाहिये। दुनियाकी विचित्र लीला देख बडा अचम्भा पैदा होता है कि सुखको चाहते हुए भी लोग, सुखके कारणभूत धर्मका सत्कार नहीं करते, अगर सुख पाना, हमें पूर्ण मंजूर है, तो विना ही सुखसाधनकी सेवाके, सुख मिल जायगा? कभी नहीं, कारण विना कार्य कभी नहीं हो सकता, कार्यको सावनेमें कारणको पहले अवश्य रहना पडता है, जब कारणके पेट ही में कार्य गुज रहा है, तो विना कस्तूरी मृगके, कस्तूरीकी तरह विना कारण, कार्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। पेट भरनेके लिये कितनी तकलीफ उठाके बाटा पाक बनाना पडता है, मगर यह तकलीफ दुःख रूप मालूम नहीं पडती, नहीं पडनेका कारण यही है कि आखिरमें पटरी, दे दनादन पूजा करती है, शरीरके साढे तीन करोड रोम पर आनंदकी ज्योति जगा देती है। संसारके विषयानन्दकी प्राप्तिके लिये कुछ कष्ट उठाने पर भी यह कष्ट

जब क्लेश सा नहीं मालूम पडता तो भला ! तीन जगत्का स्वामी धर्म--नाथने क्या अपराध किया, कि उसके सत्कार करनेमें थोडा सा भी कष्ट, असह्य मालूम पडता हुआ, नहीं उठाया जाता। जब धर्म--नाथकी तरफसे सुख सम्पत्तियाँ मिली हैं, और वेफिक्र सुखमय जीवन गुजारते हो ! तो इसकी तरफ कुछ तो खयाल करना चाहिये, समझो ! उपकारीका उपकार भूलना, इसके बराबर मूर्खता और कोई नहीं कही जा सकती।

जब हम दुःखके बडे द्वेषी हैं--दुःखसे हजारों कोस दूर भाग जाते हैं, और सुख--अमृतकी खोजके लिये दिन रात सिर पचन करते हैं, तो हमें पहले चाहिये कि दुःखके कारणोंका तिरस्कार करें, दुःखके कारणोंसे हजारों कोस दूर रहें, जब तक अनिष्टके कारणोंका हटाना नहीं होता, तबतक अनिष्ट कभी नहीं हट सकता, समझो ! कि सामग्री रहते अवश्य कार्यका जन्म हो जाता है, इसलिये दुःख पैदा करनेवाली सामग्रीको भी हटानेमें, तनिक सा प्रमाद अगर आ जाय, तो उससे सावधान रहना चाहिये; सुखके लिये, बाहरके सुखसाधनोंकी सेवा करनी जब आवश्यक समझी जाती है, तो बडा आश्चर्य है कि सुखका मुख्य साधन, और सुखसाधनोंको इकट्ठे करनेवाले, धर्मकी सेवा करनी आवश्यक नहीं समझी जाती; बिना सेनापतिके सेनाकी तरह, प्रधान कारणके सिवाय, गौण साधन मण्डली, अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं साध सकती। यह अनुभव सिद्ध है, कि सामग्री जूटने पर भी कुछ ही विघ्न ऐसा आके पड जाता है कि सधाता हुआ कार्य एकदम बिगड जाता, इसका कारण क्या ? यही कारण है कि उद्यम मजबूत करने पर भी धर्मरूपी चन्द्रमामें किसी अधर्म--राहुका आक्रमण जब हो जाता है, तब आधबीचमें कार्यका भङ्ग हो जाता है, इस लिये महानुभावोंको पक्का विश्वास रखना

चाहिये कि धर्म ही, सुखके और (गाण-गौण) साधनोंका अग्रेसर अफसर है। यही सुखको जन्म देनेवाला है, इसे छोडकर और कोई उपाय सुखके लिये जो खोजना है, सो जलपानके लिये, स्वादु जलसे भरे हुए प्रत्यक्ष तालावको छोड मृगतृष्णाकी तरफ दौडना है।

क्या बडा कुतूहल है कि लोग, धर्मका फल, सुखको तो बराबर चाहते हैं, मगर धर्मको नहीं चाहते ?, इससे बढकर और क्या मूर्खता बतावें कि आमको तो बहुत चाहते हैं, मगर आमवृक्षको उखाड देते हैं। और भी देखो! पापका फल, दुःखको कोई भी नहीं चाहता, मगर पापकर्ममें तो सदा ही कमर कसे हुए रहते है, यह कितना अज्ञान, विषफलको तो नहीं चाहते, पर विषवृक्षको बढानेकी कोशिश करते रहते है।

साँप, बिच्छू, शेर वगैरहसे हमेशा हम बचनेके ख्यालमें रहते हैं, हम समझते हैं कि ये जीव, हमें काटने पर बहुत तकलीफ देते है, इसीसे, इनके झालमें पडनेका डर हमेशा हम रहता है, मगर समझना चाहिये कि जैसे इन्हें दुःखदायक समझ कर अपने सङ्ग में नहीं रखते, वैसे ही अधर्म भी जब मनमें बढकर दुःख देने वाला है, तो फिर उसे क्यों न छोडना चाहिये ?, अपना बडा शत्रु, अपना सिर काटने वाला, अपनेको अनादि कालसे दुःख-दावानल पर खूब बढाने वाला, अगर कोई है, तो वही अधर्म-पाप कर्म है। वास्तवमें अगर कहा जाय, तो यही तत्त्व है कि साँप, बिच्छू, कीडे, स्वतन्त्र हो नहीं काट सकता, जिस पर अधर्मका बादल उमड रहा है, उसी अधर्मी पर नरक तरहकी विपत्तियाँ मुसाफिर बनकर हुई दौडी आती है, पुण्यात्माओंके पुण्य तेजसे तो साँपभी पुष्पमाला हो जाता है, इस लिये यह सिद्धान्त, पुष्ट श्रद्धामें लाना चाहिये कि दुःख-दुःखकी बाप मा-

मग्रीका सूत्रधार, धर्म—अधर्म ही है, और इन्हीं दो चक्रोंसे संसार रथका सदातन चलना रहता है, अतः सुखार्थी पुरुष, धर्मका प्रथम मर्म, दयाको अपने कण्ठका गहना बनावें, दयाको अपना कण्ठालङ्कार, नेत्रोंकी कनीनिका, और मस्तकका मुकुट (सिरताज) समझे।

कितने ही गँवार लोग, जान बुझके मक्खी, जू वगैरहको मार देते हैं, न जाने इससे इनके हाथमें क्या आता होगा ?। आदमी जब दूध, घी, मिष्टान्न खा के अपने शरीरको सोनासा खूबसूरत बनाते हैं, तो बेचारी मक्खियाँ, अपने शरीरपर बैठ, थोडासा रस पीवें, तो इतने मात्रमें उन्हें मार देना यह कैसी अज्ञानता? क्या वह, प्राणी नहीं है, क्या उसे मारनेसे हिंसा दोष नहीं लगता। अगर उसका अपने शरीरपर बैठना असह्य मालूम पडता हो, तो बेशक! अवश्य उसे उडा देना चाहिये। शरीरको गन्दा—मेला—अपवित्र रखना, यह अच्छा नहीं, शरीरकी शुद्धिसे गृहस्थोंका मन भी कुछ निर्मल सा हो जाता है; साधुजन भी वहाँ तक मलिनता और गन्दापन नहीं रखते हैं कि अपने बदन वा कपडेपर क्षुद्र जीव पैदा हो जायँ, परंतु कहनेका मतलब यह है कि क्षुद्र जीव, मारने क्यों चाहियें। कोई क्षुद्र जीव अपने बदन वा कपडे पर बैठ गया हो, तो उसे, धीरे धीरे मरने न पावे, इस तरह हाथमें ले कर बाहर रख देना चाहिये। महानुभावो! धर्म करनेकी मर्यादा मनके ताल्लुक है, जहाँ मनका बराबर खयाल नहीं, वह काम भी अच्छा नहीं होता। धर्मका कोई रूप रङ्ग नहीं है, धर्म, मनके उपयोगमें बैठा है। जो आदमी हर काममें बराबर उपयोग (खयाल) रखता रहता है, उसको धर्मकी योग्यता प्राप्त हो गई समझो! सब कुछ काम करो, मगर खयालसे करोगे, अर्थात् कोई जीव मरने न पावे, ऐसा ध्यान

दे के जीव दया पूर्वक करोगे, तो कोई पापका बन्ध नहीं होगा। खूब उपयोगसे काम करते हुए पुरुषमे, अगर अशक्य परिहार कुछ हिंसा हो भी जाय, तो उसमे हिंसाका पातक, उस अप्रमादी पुरुषको नहीं लग सकता विना ख्याल, उन्मत्त चेष्टा करते हुए आदमीसे, अगर जीव सा न भी हो, तो भी उस प्रमादी आदमीको हिंसा लग चुकी।

जिनके हिसावमे शरीर व जीव, एकान्त भिन्न (बिलकुल जुदे) है उनके मतसे, शरीर नष्ट होने पर भी जीवको हिंसा, नहीं बननेसे न लगेगी। जिनके अभिप्रायसे शरीर व जीव, बिलकुल एक ही है, उनके विचारसे, शरीर नष्ट होजानेसे सुतरा जीव नष्ट हो गया, तो परलोक आदि सब राखमे मिल जायँगे, इसलिये शरीरसे जीवको कथञ्चित् भिन्न, अभिन्न मानना चाहिये ता कि शरीरका नाश होने पर भी जीवको पीडा--तकलीफ आदि बन सके, और यही हिंसा है, क्योंकि सर्वथा जीवका नाश तो होता ही नहीं, परन्तु पूर्व पूर्व योनि--गतिको छोड नई नई गतिओंमे जीवका जो सचरना होता है, अर्थात् एक एक शरीरको छोड दूसरे दूसरे शरीरको जो धारण करना पडता है, उसीको, अगर जीवका नाश हुआ कहे तो कोई हर्जकी बात नहीं इसीसे अक्लमद लोग शीघ्र समझ सकते कि जीव नित्या नित्य है, यानी एकान्त नित्य नहीं, और एकान्त अनित्य भी नहीं, क्यों कि जीव का जीवतत्व--स्वरूप कभी नष्ट न होने के कारण, जीव नित्य है, और भिन्न भिन्न शरीरको धारण करनेसे जीवके स्वभाव में बहुत कुछ फेरफार हमेशा होता रहता है, इसीसे जीव अनित्यभी सिद्ध है। इसमे यह स्फुट हुआ कि जिसके होते, दुःख की उत्पत्ति, मनका क्लेश, और उस मनुष्यत्व आदि पर्यायका क्षय होता है, वह हिंसा, बुद्धिमानोंको प्रयत्नसे वर्जनी चाहिये।

कितने ही लोगोंका कहना होता है कि हिंसक प्राणियोंको मार देना चाहिये, क्योंकि उन्हें मारनेसे बहुतसे जीवों की रक्षा होनेपर पुण्य होता है, मगर यह विचार बिलकुल भद्दा है, बतलाना चाहिये, कौन ऐसे हिंसक प्राणी हैं कि जिन्हें मारनेसे बहुतों का प्रतिपालन होता हो ?, खोजने पर कौन ऐसा प्राणी न मिलेगा, जो कि हिंसा न करता हो ?, चूहा, बिल्ली, कुत्ता, साँप, मोर वगैरह सभी प्राणी, किसी न किसीके हिंसक है ही हैं, तो क्या सभी प्राणियोंको मार देना मुनासिब समझते हों, यह तो लाभकी जगह मूलसे नुकशान आया। खयाल करो ! कि अहिंसा से पैदा होनेवाला धर्म, किसी भी हिंसा से, क्या कभी पैदा हो सकता है ? कदापि नहीं, जलसे पैदा होनेवाले कमल, आगसे हर्गिज उत्पन्न नहीं हो सकते। हिंसा कैसी भी क्यों न हो ?, मगर वह, यदि पापकी माता हो के बैठी है, तो बतलाइए ! उससे कैसे धर्म वा पुण्य हो सकता है ? वह कैसे पापको नष्ट करेगी ?, क्या मौतका हेतुभूत जहर, जीवितके लिये कभी होगा ? । कभी नहीं ।

संसार मोचक लोग कहते हैं कि दुःख पाते हुए जीव, मार देने चाहियें, ता कि वे बेचारे दुःखसे फौरन छुट जायँ, मगर यह भी झूठा कथन है, दुःखी प्राणियोंको मार देनेसे, वे दुःखसे छुट जाते हैं, इसमें सबूत क्या ? आपको किस बृहस्पतिके कहनेसे यह श्रद्धा हुई है कि दुःखी प्राणी, अगर एकदम मार दिये जायँ, तो वे दुःखसे छूट जाते हैं, क्या मरकर फिर और गति होगी ही नहीं, अगर होगी तो अच्छी ही होगी ?। दुःखी जीवोंको मारनेसे वे मरकरके अगर नरकमें चले जायँगे, तो बतलाईए ! उन दुःखियोंको दुःखसे हटाया, या ज्यादह

दुःखमें डाला ? इस लिये ऐसे प्रलाप, कानोसे बाहर ही रखने चाहियें, विना सबूत जिस किसीकी कही हुई बात, सची नहीं मानी जा सकती, दुःखी जीवोंको मार देनेसे अगर पुण्य होता हो तो सुखी जीवोंको मारनेसे भी धर्म क्यों कर न होगा ?, क्योंकि सुखी जीवभी, सुखके उन्मादमें पाप ही किया करते है, इसलिये उन्हें मार देनेसे, वे पाप कर्मसे बच जायँगे, अतः ऐसे कुचोद्य कुतर्क, जहाँ तहाँ नही उडाने चाहियें। धर्मका विचार, सुस्थ हृदयसे सुशास्त्रोंके आधार पर करनेसे धर्मका सचा मार्ग मिलता है ।

चार्वाक (नास्तिक) लोग कहते हैं कि शरीरसे जुदा कोई जीव ही नहीं, फिर दयाकी क्या बात करनी ?, मगर यह कहना बिलकुल प्रमाणसे बाधित है, किस सबूत से चार्वाक लोग जीवका निषेध करते होंगे ? यह पहले बतावें, क्या प्रत्यक्ष प्रमाणसे ?, नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण, तो उलटा शरीरसे अतिरिक्त आत्माको सिद्ध करता है, खयाल करें कि सुख दुःखादिका "मैं सुखी, मै दुःखी" यह जो आन्तरिक भान होता है, इसमें 'मैं' करके किसका ग्रहण होगा ? क्या शरीरका ? नहीं, शरीर तो भूत समूहात्मक है, समुदायमें 'मैं' ऐसी एक कर्तृक एकाकार प्रतीति नहीं हो सकती, बस ! यही प्रतीति, भूत समूहात्मक शरीर, और पांच इन्द्रियोंके अतिरिक्त, ज्ञानघन, चैतन्यस्वरूप अपौद्गलिक जीवको साबीत करती है ।

अगर चे शरीरको ज्ञान सुख वगैरहका आश्रय माना जाय, तो मृतक (लोथ) को भी इनका आश्रय मानना पडेगा, जब शरीर ही ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न वगैरहका अधिकरण है, तो फिर शरीरत्व समान रहते, मृतकको क्यों जला देना चाहिये ?, कहोगे ! प्राण नहीं रहनेसे काष्ट जैसे बने शरीरमें, ज्ञान

वगैरह कुछ नहीं रह सकते, तो बतलाना चाहिये कि प्राणोंके संयोग–वियोग होनेका प्रयोजक कौन है? भूतोंके विलक्षण संयोग ही को अगर प्रयोजक कहोगे!, तो अन्यत्र भी, जहाँ पृथ्वी, जल, आग, वायु, का समुच्चय परस्पर परिणत हुआ है, ज्ञान वगैरह गुण पाने चाहियें, वहां भी जीव–चैतन्य व्यवहार, किससे हटेगा?।

यदि इन्द्रियोंको आत्मा मानी जाय, तो चक्षु इन्द्रिय नष्ट होने पर भी पहले चक्षुसे जो जो चीजें देखी गई, उनका स्मरण जो होता है, वह न होगा, क्यों होना चाहिये? चक्षु तो नष्ट हो गई, देखा था चक्षु ने, फिर चक्षु के अभावमें देखी हुई चीजका स्मरण, चक्षु को तो होवे ही कहांसे?।

दूसरी इन्द्रियाँ भी उसका स्मरण हर्गिज नहीं कर सकतीं, क्यों कि चक्षुकी देखी हुई चीजको दूसरी इन्द्रियाँ कैसे स्मरण कर सकें? एक आदमीकी देखी हुई चीजका, उसे न देखा हुआ दूसरा आदमी क्या स्मरण कर सकता है? कभी नहीं। मैंने देखा, मैंने सुना, मैंने छुआ, मैंने गन्ध लिया, मैंने स्वाद लिया, इन पांच इन्द्रियोंके पांचों, रूप वगैरह विषयों के ग्रहणमें, कर्त्ता, (विषय भोक्ता) 'मैंने' इस आकारसे जब एकही मालूम पडता है, तो फिर इन्द्रियोंमें जीवतत्त्व कैसे सिद्ध हो सकता है?, अगर इन्द्रियाँ ही जीवतत्त्व होती, तो बतलाइए! "जिस चीजको मैंने देखा था, उसीका इसवक्त मैं स्पर्श करता हूँ" ऐसा दर्शन, और स्पर्शन, दोनोंके एक ही कर्त्ता विषयक भान कैसे होता?, इस लिये भूत समूह, और इन्द्रियोंसे जुदी एक व्यक्ति, शक्ति, अवश्य माननी पडेगी, और वही आत्मा, जीव, चेतन, ज्ञानवन वगैरह पर्याय नामोंका शक्य, अभिधेय, वाच्यार्थ है ।

अनुमान प्रमाणसे भी आत्मा बराबर सिद्ध है, मगर अनुमान तो नास्तिकों को सम्मत नहीं, इसलिये अनुमानका प्रयोग

करना व्यर्थ ही समझते । हमें बडा अचम्भा होता है कि नास्तिकोंको अक्ल, लडकोंसे भी क्या कम होगी ? कि वे धूम देखनेसे आगको मालूम नहीं कर सकते; बतलाना चाहिये, धूमके देखने से अदृष्ट आगका जो मानसिक ज्ञान होता है, अर्थात् जहाँ धूमकी अविच्छिन्न शिखा देखी कि झट यह मालूम हो जाता है, कि यहाँ आग जरूर होनी चाहिये, यह जो भान होता है, वह संशय रूप है, या निश्चय रूप ? । अगर संशय रूप कहोगे, तो संशय होनेका कारण बताना चाहिये ?, जब कि आगको छोड धूम कहीं जुदा नहीं रहता, तो फिर धूमके देखनेके बाद, आगके अभाव (नहीं होने) का अंश, जो संशय–ज्ञान रूप तराजू की एक तुला पर झुक रहा है, वह काहेको झुलेगा ?। संशय तो तब ही जाग उठता है कि दो धर्मोंमेंसे, एक धर्मकी निश्चायक पुष्ट सबूत न दिखाई दे, जैसे कि घन अंधकारसे स्पष्ट न दिखाई देती दूर वर्त्ति, ऊँची, कुछ चौडी, चीज पर यह सन्देह जरूर जाग उठता है, कि यह वृक्ष होगा, या आदमी ?, क्यों कि यहाँ पर, मनुष्य, और वृक्ष के, कुछ समान धर्म, दिखाई देने, और उसके नियमित विशेष धर्म न दिखाई देनेसे, ऐसा ज्ञान पैदा हो जाता है, जोकि दोला की तरह वृक्ष, और मनुष्य, दोनों तरफ लहरता हैं, मगर प्रकृत में धूम देखने से आगके सन्देह होने का कामही क्या ? कौन सी ऐसी आँच लगती है कि धूमकी जगह पर आगका निश्चय, अच्छी रीतिसे न हो सके । जब समझने वाले यह समझते हैं कि धूम, आगका कार्य है, और कार्य, सिवाय कारण, कभी उत्पन्न नहीं हो सकता, तो फिर, वे लोग, जिस जगह धूम को देखेंगे, वहांपर उनको अग्निका निश्चय होने में कुछ देर लगसकती है ? नहीं, तो चार्वाक लोग, यह कैसे कहते हैं, कि अनुमान कोई प्रमाण नहीं, जब धूम के दर्शन द्वारा आगका

निश्चय ही होता है, न कि संशय, तो फिर वह निश्चय, सत्यरूप होने से, कुछ न कुछ प्रमाण ही सिद्ध ठहरता है, प्रमाण में भी, वह, प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, यह तो स्फुटही है, रहा, अनुमान, अनुमान वह चीजहै, कि जहाँ जिस वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता, वहाँ दूसरी चीज के (जो कि उसको छोड रहती ही नहीं) द्वारा उसका निश्चय करना, इसी रीतिसे, धूमके दर्शन द्वारा आगका जो सत्य निश्चय, होता है, वह अनुमान ही सावीत होता है, और ऐसा निश्चय, लडके तकभी कर लेते हैं, तो क्या चार्वाकों से नहीं हो सकेगा ?, जव ऐसा निश्चय होना, नास्तिकों को मंजूर है, तो नहीं चाहते हुए भी उनके गलेमें, अनुमान प्रमाण का फांसा वरावर आ गिरा ।

इस अनुमान प्रमाणसे भी—ज्ञानादि गुणों द्वारा उनके अनुरूप आश्रयकी सिद्धि होती हुई, मूर्त्त पौद्गलिक शरीर आदिको हटाकर जीव ही में विश्रान्ति लेती है ।

आगम प्रमाणसे भी आत्मा वखूवी सिद्ध होता है, और अनुमान प्रमाणकी तरह उसे भी प्रमाण माने विदुन चार्वाकों (नास्तिकों) और वौद्धोंको छुटकारा नहीं है; जव सत्य शब्दसे सत्य अर्थका संवाद होता ही है, और दुनिया भरका व्यवहार शब्दद्वारा चला ही करता है, तो फिर शब्दको अप्रमाण, नास्तिक व वौद्ध लोग, काहेको कहेंगे ?, ठगनेवाले आदमीके शब्द, यद्यपि अप्रमाण होते हैं, परंतु इसीसे शब्द मात्रमें प्रमाणताका तिरस्कार नहीं हो सकता, वरना प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं वचेगा, क्या प्रत्यक्ष भी झुठा नहीं होता ?, साँपमें रस्सीका, मृगतृष्णिकामें तालावका, विजली लाइटमें चन्द्रमाका, सफेद कपडमें कागजका, धोले कागजमें कपडेका, वृक्षमें आदमीका, हल्दीमें पीले रंगका जो प्रत्यक्ष होता है, वह क्या सच्चा है ?, नहीं, तौ भी जैसे और प्रत्यक्षोंमें संवा-

दित्व देख प्रत्यक्षको प्रमाण, माना गया है, जैसे ही और शब्दों में संवाद देख, शब्दको भी प्रमाण क्यों न मानना चाहिये ? अन्यथा **अर्ध जरतीय** न्यायकी वदबू लेनी पडेगी ।

सब आस्तिक दर्शनोंके आगम, आत्माको जब साबीत करते हैं, तो एक ही चार्वाकका किया हुआ, आत्मवाद खंडन, किस बुद्धिमानको असरकारक होगा ? । सब विद्वानोंका, आत्मतत्त्वपर जब पुरता विश्वास है, तो एक चार्वाकका, आत्मवाद खंडन अप्रामाणिक ही सिद्ध होता है । बहुत महाजनोंकी, जिस बातपर मजबूत सम्मतियाँ छुटती है, तो, उस बात पर एक आदमी अगर विरुद्ध अभिप्राय दे देवे, मगर उसकी एक भी नहीं सुनी जाती, इसलिये आत्मवाद पर, नास्तिकोंका विरुद्ध आक्षेप, आस्तिक विद्वान् गणोंके सामने कुछभी सफल नहीं हो सकता; यह विषय जितना स्फुट–स्पष्ट है, उतना ही युक्ति चर्चाके ढेरसे भरा है, मगर यहाँ इसको स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया है. जिससे कि पूर्ण रीतिसे वाद–प्रतिवादकी कोटियाँ इस विषयपर, लहरादें ।

उक्त संक्षिप्त दलीलोंमे आत्मा जब निःशङ्क सिद्ध है, तो उसकी, प्राणोंके वियोग कर देनेसे, जो हिंसा होती है, उसका परिहार कर दया व्रत पालना चाहिये ।

यदि दया व्रतको अपने हृदयका आभरण न बनाया, तो कितना भी दम, देवभक्ति, गुरु सेवा, दान, अध्ययन, तप वगैरह किया करो, मगर सब निष्फलही है । क्या अफसोस बतावें, शम, शील, और दया ही मजबूत मूल जिसका, ऐसे धर्मको छोड मन्दोंने हिंसाको भी धर्ममें शामिल रख ली, मगर तत्त्व तो यह है कि किसी भी कामके लिये कभी भी हिंसा नहीं करनी चाहिये, कैसा भी समझकर कैसी भी हिंसा अगर करोगे, तो वह पा-

पहीका मूल है, दुर्गतिको जन्म देनेवाली है। जो पुरुष, जीवोंको अभयदान देता है, उसको जीवोंसे भय नहीं रहता। अहिंसा, (दया) सब भूतोंकी माता है, अहिंसा, प्राणिओंको हित करनेवाली है, अहिंसा, संसाररूपी मारवाडमें अमृतका तालाब है, अहिंसा, दुःख दावानलको शान्त करनेका भ्रमर-श्याम घन मेघ पटल है, और अहिंसा, भवभ्रमणरूप रोगसे पीडाते हुए लोगोंकी परम औषधी है।

ऐसा, दया देवीका वात्सल्य रहते पर भी कितने ही गँवार लोग, अपने पुत्रके पोषण के लिये, अथवा लडका पैदा करनेके लिये, या अन्य किसी मतलबके लिये देवीके आगे पशुको शस्त्र प्रहारसे मार कर बलिदान चढाते हैं, परंतु यह महा पापी पन है, अपने पुत्रके लिये पशुके पुत्रको मार देना यह कितनी अधमता, और पागलपन? । आदमी को जानवर मारनेका हुक्म क्या ईश्वरसे मिला है? जिससे कि विना ही विचार जानवरोंके ऊपर एकदम शस्त्र फिराते हैं। क्या जगत्की माता देवी, अपने पुत्रका बलिदान चाहती है?, देवी, जगत्की माता हो के भी जगत्के अन्तर्गत पशुको (अपने छोटे पुत्रको) मार देना, अपने नजरहीके सामने पशुका गला काटना, क्या पसंद करती है? हर्गिज नहीं। देवीको भोग चढाने के लिये और मालपाक मिष्टान्न क्या नहीं मिल सकते, उन्हें क्या कौऐं बिलकुल खा गये है? । देवी, पशुके शिरका बलिदान अगर अन्तःकरणसे चाहती हो, तो बतलाईए! उसके पास पशु बांधकर, मन्दिरके द्वार बंदकरने पर, रातको वह, पशुको क्यों भोगमें नहीं लाती? । भक्त लोगोंकी, देवीके पास पशु चढानेकी जो इच्छा वा प्रतिज्ञा थी, वह तो इस प्रकार करनेसे बराबर पूरी हो सकती है, फिर पशुकी जान, फिजूल क्यों लेनी चाहियें, समझो! जीवोंको दुःखदेना, जीवोंको मारना,

जीवोंको कतल करना, यह किसी हालतमें धर्म नही हो सकता, अन्यथा सब लोग, आपस आपसमें लडाई कर, एक दूसरेको मारकर, धर्मात्मा कहे जायेंगे। धर्म तो क्या? कुछ भी चाहना, कुछ भी मनोरथ, हिंसा से सिद्ध नहीं हो सकता, उलटा दुःख ही दुःख उठाना पडता है। देवी, कोई मानुषी नहीं है, कि मनुष्योंकी तरह कवल भोजन करेगी। जब, देवी हमारी तरह कुछ भी खाती-पीती नहीं, तो हम नहीं समझते कि किस विचारसे, किस मनसे, किस उद्देशसे, उसको पशुके शिरका भोग दिया जाता होगा।

हमतो वहाँतक कहते हैं कि कैसी भी आपदा, कैसा भी कष्ट, कल आता हो, तो आज ही क्यों न आवे?, मगर धर्मको छोड अधर्मकी बगलमें क्यों घुसना चाहिये। सर्पके मुँहसे जब कुछ निकलेगा, तब विष ही, वैसे ही हिंसा-अधर्मसे कभी अच्छी बात, सुखका नाम नहीं निकल सकता, जो चीज हमारी दी हुई है, अथवा जिस चीजमें हमारा अधिकार है, उसीको हम कथंचित् उठा सकते हे, मगर पशुओंके प्राण, हमारे दिये हुए नहीं, उनपर हमारा कुछ भी अधिकार नहीं, तो फिर प्रकृतिके ताल्लुक उनपर, हमारा आक्रमण कैसे हो सकता है? उनको हटा देना, पशुओंकी आत्मासे जुदा करना, यह काम हमसे कैसे हो सकता है?। दूसरेकी की हुई घटनाको तोडदेनेका शासन, हमें जब मिला ही नहीं, तो फिर हम पशुओंको मारते हुए इरादा पूर्वक बडे गुनहगार ठहरते है, और इस अपराधकी सजा प्रकृतिके राज्यमें अवश्य मिले बिदुन नहीं रहेगी, इसलिये, परम पवित्र, अनादि-प्रधान, दया धर्म अवश्य पालना चाहिये, वह, अगर हमसे रक्षित होगा, तब ही हमारी रक्षा करेगा, और दीर्घ आयु, खूबसूरत रूप, आरोग्य, और इज्जत, वगैरह सम्पदाओंसे भेट करावेगा। ज्यादह क्या कहें?, पर्वतोंमें मेरु, देवता-

ओंमें इंद्र, राजाओंमें चक्रवर्त्ती, ज्योतिषोंमें चन्द्र, वृक्षोंमें कल्प-वृक्ष, ग्रहोंमें सूर्य, और जलाशयोंमें, समुद्रकी तरह, सब व्रतोंमें—सब धर्मोंमें—सब नियमोंमें—सब गुणोंमें, दया—अहिंसाही अधिपति पदवीको शोभा रही है, और यही वास्तविक मनुष्यत्व है, इसके सिवाय आदमीका जीवन, व्यवहारमें राक्षसके बराबर मशहूर है, इसलिये छोटे प्राणिओं, और विशेषतः बडे जानवरोंको तो जरूर दया नजरसे निहालना चाहिये। गौ, भैंस, और बकरी वगैरहकी रक्षा होगी तो भारतकी सन्तानकी जो शारीरिक निर्बलता, और दिमागकी कमजोरी, वर्त्तमानमें बढ रहीहै, वह धीरे धीरे अवश्य पलायन करती जायगी। बडे जानवरोंकी जो रक्षा करनी है, यह सिर्फ धर्म ही न समझें, बल्कि देशकी उन्नतिका भी परम साधन है, जैसे गौकी रक्षा अति आवश्यक समझी जातीहै, वैसे यह दे बैल वगैरहभी अवश्य रक्षित होनेके काबिल हैं, उनसे खेत वगैरहका अत्यावश्यक काम बहुत अच्छा पूरा पडता है। यह दया धर्म कैसा उमदा है! कि दया, कि दया, और देशका अभ्युदय। हमारे भारत वासियोंको इस बातपर जरूर ध्यान खींचनेकी अत्यावश्यकता है, और देश भक्तोंको, पशुरक्षा पर कमर कसके आहोम प्रवृत्ति करनेकी भूरिभूरि सविनय अभ्यर्थना और सूचना है।

एतावता गृहस्थोंके लिये दयाव्रत पालनेका नियम यह निकला—

निरपराधि त्रस जीवोंको **संकल्प** (हननेकी बुद्धि) से नहीं मारुँ; मगर उसमें भी, अनिवार्य कारण आ पडे, तो वह बात न्यारी है, इस प्रकार पहिला स्थूल **प्राणातिपात विरमण** व्रत पूरा हुआ ॥
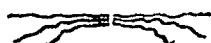
दूसरा मृषावाद विरमण व्रत—
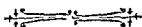
किसी भी वक्त मृषावाद–असत्य वचन नहीं बोलना चाहिये, समझो ! कि मृषावाद बोलनेका प्रयोजन ही क्या है ?, क्या सत्य वचन बोलनेसे कोई शिर काट लेता है ?, शिर भी क्यों न काट ले ?, मरना कितनी बार है ?, एकवार जब मरना ही है, तो फिर मरनेसे डरना क्यों ?, अधर्मका पल्ला पकडकर जीना अच्छा, या धर्म कर, अर्थात् धर्मके प्रतिपालनके प्रसङ्गमें मरना अच्छा ?; इस जीवनका थोडासा आराम उठानेके लिये हम जो असत्य भाषा बोलते है, तो वह आराम–वह जीवनकी मौज क्या कायम रहेगी ?, हर्गिज नहीं, झूठ बोलो !, या सच बोलो !, यह जीवन चला जानेवाला है, इसमें कोई शक नहीं, जब यही बात है, तो फिर सच बोलकर धर्म ही का उपार्जन क्यों न करें, ता कि परलोकमें सुख सम्पदाएँतो मिले; जो आदमी असत्य बोलता है, उस आदमीका व्यवहारमें, कोई, विश्वास नहीं करता, असत्य वचनसे लघुता, निन्दा, जगत्में पसरती है, और, " अज शब्दका अर्थ बकरा है" इतने ही मात्र असत्य वचनसे वसुराजाकी तरह नरकगति होती है। बुद्धिमानोंको चाहिये कि प्रमादसे भी मिथ्या भाषण न करें। जिससे, प्रचण्ड पवनसे, महा वृक्षोंकी तरह, कल्याणके खम्भे भी चूर्ण हो जाते हैं, वह मृषावाद, भयङ्कर वेतालकी तरह प्राणीयोंके सब पुण्योंको ठुकरा बनाता हुआ, कैसे आदरणीय हो सकता है ?। असत्य वचनसे, वैर, विरोध, झगडा, अविश्वास, पश्चात्ताप, और राजामें अपमान, वगैरह बहुत दोष उत्पन्न होते हैं, यह बात, आखोंके सामने बनती हुई सबको विदित होने पर भी, जो अज्ञानी, पद पदमें मृषावाद-

का दुर्व्यसन नहीं छोडते, वे धर्मके सच्चे प्रेमी ही नहीं हैं । धर्म, धर्म, कहनेसे धर्मात्मा नहीं वन सकते, किंतु धर्मकी क्रियाका, यथा योग्य आदर करनेसे धर्मात्मा वनते हैं । जो अज्ञानी कहते हैं कि हमें धर्मात्मा नहीं वनना है, तो उन्हें पापात्मा ही रहने देना चाहिये, धर्म, कोई जवर दस्तीसे नहीं कराया जाता, जिनकी तकदीरका सितारा चमक रहा हो, वे ही सज्जन, धर्मकी सडकके मुसाफिर हो सकते हैं। जगत्में पापी लोगोंका ढेर है, पर धर्मात्मा थोडे हैं, जिनका अन्तःकरण, भीतर ही, संसारकी प्रचण्ड गर्मीके जुलमसे संतप्त--व्याकुल होता है, वे ही, धर्मरूपी सुधाको पीनेके लिये, मुनिजनोंके पास चले जाते हैं, और वडे प्यासे होनेसे, आकण्ठ धर्म सुधाको पी कर प्रफुल्लित मुखकमल, विकस्वर रोम, और रक्त वर्णवाले वनजाते हैं । धर्मका कोई मूल्य नहीं, अगर मूल्य है भी, पर वह मूल्य, सम्राट् तक महाराजाधिराजोंको नहीं मिल सकता, जव दरिद्र, कंगाल आदमी भी धर्मको खरीद कर सकता है, धर्म एक स्वमनोगम्य, अगोचर, अद्भुत, आनन्दमय, चीज है, पर उसका अनुभव--प्रकाश सवको नहीं हो सकता, इसलिये शास्त्रकारोंने, जीवोंमें, धर्मकी वास्तविक रोशनीको जगानेके उद्देशसे, दया, सत्यवचन वगैरह दीप शलाकाएँ प्रकाशित की हैं, इन्हें जो स्वीकार नहीं करते, वे, अपनी आत्मामें धर्मकी रोशनी हर्गिज नहीं जगा सकते, इसलिये दया व्रतके वाद मृषावादके परित्याग करनेका यह उपदेश चला है । तात्त्विक दृष्टि करने पर मृषावादके चार भेद हैं, भूतनिन्हव १, अभूतोद्भावन २, अर्थान्तर ३, और गर्हा ४। उनमें प्रथम भूतनिन्हव, यानी सद्भूत पदार्थका अपलाप करना (नहीं है, ऐसा कहदेना)। जैसे, आत्मा नहीं, पुण्य नहीं, पाप नहीं, परलोक नहीं, मोक्ष नहीं, वगैरह । दूसरा अभूतोद्भावन अर्थात् असद्रूपको मान लेना, जैसे,

आत्मा सर्वत्र व्यापक है, इत्यादि । तीसरा अर्थान्तर, यानी दूसरी चीजको दूसरी कह देना, जैसे गायको घोडा कहना । चौथा गर्हा-मृषावाद, तीन प्रकारका है—एक सावद्य व्यापारका प्रवर्त्तन कराना, जैसें, 'खेतका कर्षण करो!' दूसरा अप्रिय, जैसे 'अंधे पुरुषको अंधा कहना,' तीसरा आक्रोश करना, जैसे 'अरे व्यभिचारिणीका पुत्र' इत्यादि तिरस्कार गर्भित आक्रोश करना । अगर सर्व प्रकारसे मृषावादका परित्याग करना न बन सके, तो इतनी वार्तोंका मृषावाद तो जरूर वर्जना चाहिये—एक कन्या विषयक गप्प, १ । गाय विषयक गप्प, २ । भूमी विषयक गप्प, ३ । अपने पास किसी आदमीकी रक्खी हुई चीज (सुवर्ण आदि) का अपहार करना, उसे वापिस नहीं देनेके लिये नाना प्रकार प्रपञ्चयुक्त कहना, ४ । और झूठी साक्षी देना, ५ । इन पाँचों में और सभी प्रकारके बडे बडे मृषावाद शामिल ही समझने चाहियें । ये मृषावाद बडे भयङ्कर, और इस जन्म व परलोकमें अति दारुण दुःख विपाकसे भेटानेवाले हैं । भूखा मरना बहत्तर है, कंगाल रहना अच्छा है, यशोवृद्धि न होना ठीक है, बापदादोंकी कार्य प्रणालीसे नीचे उतर जाना उमदा है, व्यवहार पद्धतिका प्रतिपालन, न बन आवे तो, नहीं करना उचित है, मगर पूर्वोक्त पाच प्रकारके, और उनके अन्तर्गत और बडे मृषावाद, दृष्टि विष महा सर्पकी तरह कभी नहीं सेवने चाहियें, इनके सेवनसे अपार दुःखराशि उठाना है, और उनके नहीं सेवनेसे, अगर कंगाल स्थिति हो, तो इसी जन्ममें थोडासा कष्ट उठा कर, परलोकमें बहुत आनंद प्राप्त करना है । मगर यह तो अवश्य खयालमें रहे कि दुष्ट हालाहल मृषावादका पल्ला पकडकर यदि कोई धनी होना चाहे, तो कभी नहीं हो सकता, अगर च हो जाय, तो भी कहाँ तक? थोडे ही मुद्दत तक । भयङ्कर मृषावा-

द्का अनुचर बन, चिरस्थायी, प्रासाद–रमणी–बगीचेमें ऐशआराम उडाना, यह कभी स्वप्नमें भी सम्भावना नहीं हो सकती?, ऐसी सम्भावना, स्वप्नमें क्या, जागृत अवस्थामें अगर हो भी जाय, तो भी उनको फलवती होना, आकाशके फलवान् होने के बराबर है, इस लिये मृषावादका संग कदापि करना नहीं चाहिये।

यहाँ यह शङ्का उपस्थित हो सकती है, कि मृषावाद विरमण वगैरह सभी व्रत, अहिंसा–दयारूपी बागके रक्षण करनेका किला होनेसे, मृषावाद विरमण व्रत अर्थात् सत्य वचन भी, 'मृग किस तरफ चले गये?' ऐसे शिकारी लोगोंके पूछने पर वहाँ खडा रहा जानकार आदमी, अगर नहीं बोलेगा, और 'मैं नहीं जानता हूं' इत्यादि कुछ मृषा बोल देगा, तो बेशक! उसकी तरफसे मृगोंकी हिंसा बच जायगी, मगर सत्यव्रतके भङ्गका दोष, वैसेका वैसा ही उसको शिरपर उठाना पडेगा, अगर चे, वह, सत्य व्रतके प्रतिपालनका मन पक्का रखेगा, तो वह खुद जीवहिंसाका प्रयोजक बननेसे हिंसा पापसे पातकी ठहरेगा, यह तो और भी ज्यादह नुकशान, तो ऐसे प्रसङ्गपर किस प्रकार वर्त्तना चाहिये, जिससे कि हिंसाका प्रयोजक न बननेके साथ सत्यवादिपन रक्षित रहे?।

ऐसे प्रसङ्गपर अगर विवेक पूर्वक मौन करनेसे काम सर-जाय, तो अच्छा है, नहीं तो जानते हुए भी पुरुषको उस वक्त साफ उलटा बोल देना चाहिये कि "मुझे नहीं मालूम"। ऐसा कहनेसे मृषावादका पाप नहीं लग सकता, क्यों कि मृषावाद विरमण, यानी सत्यव्रतमें सत्य शब्दका यह तात्पर्य है कि सद् अर्थात् भूतों (जीवों)को हितकारी–हित करनेवाला, अर्थात् जीवको क्लेश होनेका कारणभूत नहीं, ऐसा जो वचन है, वही सत्य है, इस लिये उक्त प्रसङ्गपर, जो उलटा बोलना है, वह, सत्य श-

व्दके अर्थानुसार, सत्यव्रतका रत्तीभर भी उल्लघन नहीं करना है, बल्कि सत्यव्रतकी मर्यादामा शामिल है ।

जो महाशय, मोक्षके मार्ग–ज्ञान, क्रियाका मूलभूत, सत्यवचनही बोलते हे, उनके चरणोंके रेणु कणोंमे पृथिवी पवित्र रहती है । सत्यव्रत रूपी धनसे सपन्न जो सज्जन, मृषावाद बिलकुल नहीं बोलते, उन्हें, भूत, प्रेत, सर्प, वगैरह कुछभी कष्ट नहीं पहुँचा सकते । वैर, विरोधका कारण भूत, मर्म भेदी, असूया जनक, शङ्काका स्थान भूत, कर्कश, ऐसा वचन, पूछने परभी नहीं बोल्ना चाहिये । धर्मका ध्वश होता हो, क्रियाका लोप होता हो, स्व सिद्धान्त के अर्थका अनर्थ हो जाता हो, तो, उसका प्रतीकार करनेके लिये, विना पूछेभी शक्तिमान् पुरुषको अवश्य समुचित बोलना चाहिये। समझो! कि प्रहारका चिन्ह तो शान्त हो जाता है, परन्तु दुर्वचन–तिरस्कार वचनके चिन्ह को शान्त होना बडा ही मुश्किल है। चन्दन, चन्द्रकी रोशनी, चन्द्रमणि, मोतीकी माला वगैरह, जितना आल्हाद नहीं दे सकते, उतना आल्हाद, सत्य वाणीसे प्राप्त होता है । चाहे, शिखी हो, वा मुण्डी, जटाधारी, नग्न, अथवा प्रबल तपस्वी हो, मगर वह अगर असत्य वादी होगा, तो निन्दाका पात्र ही है । पारदारिक (परस्त्री गमन करनेवाले) लोगोंका तो फिरभी कुछ प्रतीकार हो सकता है, मगर असत्य वादिका कहीं निस्तार नही देखते । सत्यवचनके प्रभावसे राजा लोग, सत्यवादीकी वातको शिरपर उठा लेते है, और देवता लोगभी सत्यवादीका पक्षपात करते हैं, तथा आग वगैरह विषम अवस्थाएँभी सत्यवादी महात्माके सत्य तेजको नहीं सहन करती हुई शान्त हो जाती है, ये सब सत्य वचनके प्रभाव देख, विना धन व्ययके सुलभ, विना परिश्रमकेभी प्राप्य, सर्व दुःखोंको निकन्दन करने वाला, इस लोक, और परलोकमें

कीर्तिको फैलाने वाला, हरिश्चन्द्र राजाकी तरह यावच्चन्द्र दिवाकर नाम रेखाको त्रिलोकीमें स्थायी रखने वाला, सभी ब्रह्मचर्यादि नियमोंको उज्ज्वलित रखने वाला, अन्यायको रत्ती भरभी अवकाश नहीं देने वाला, सर्व सम्पत्तिओंका मूल मन्त्र, और मुक्ति वनिताका वशी करण, सत्य वचन, हमेशा अपनी जिह्वापर विराजे रहे, ऐसी कोशिश करनी चाहिये ॥

तीसरा अदत्तादान विरमण व्रत—
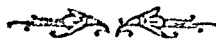
'अदत्त'—नहीं दी हुई वस्तुको, 'आदान' उठा लेना, यह अदत्तादान, पापस्थानक है, उससे विराम लेना, यह पाप नहीं करना, पूछकर वस्तुको उठाना, यह तीसरा, अदत्तादान विरमण नामक व्रत है।

नीचे जमीन पर गिर गई, कहीं रख छोडी हुई (जिसका स्मरण मालिकको न होता हो), कहीं चली गई हुई, (जो मालिकके खयालमें न हो) मालिकके पास रही हुई, स्थापनकी हुई, और जमीनमें गाड रक्खी हुई, दूसरेकी चीज (द्रव्य वगैरह) को, कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये। चोरी करनेवाला आदमी दुर्भागी, दरिद्र, नोकर, दास, वगैरह क्षुद्र हद पर पहुँचता है, और हाथ, पैरके कटवानेके भी प्रसङ्गमें आता है, ऐसा, भयङ्कर, चोरीका फल देख, कभी चोरी करनेका मन नहीं करना चाहिये। तत्त्वदृष्टि करते यह मालूम होता है कि चोरी करने वाला पुरुष, दूसरेकी चोरी क्या करेगा ?, असलतो अपनेही स्वार्थकी चोरीकरताहै, क्योंकि चोर पुरुष चोरीरूप आगसे, अपना यहलोक परलोक, धर्म, धैर्य, स्वस्थता, और विवेक, सबको खाक बनाता है, यह

अपने ही स्वार्थमें नुकशान हुआ देख, जो, चोरीसे विराम लेता है, वह, फिर भी धर्मकी सडक पर बराबर पहुँच सकता है, और इस लोक, परलोकका सुधार कर सकता है। समझो! कि एक जीवको कतल करनेमें उसको क्षणभर ही वेदना-पीडा होती है, मगर चोरी करनेसे, जिसका धन लुटाया होगा, उस अकेलेको क्या?, सारे घरको, सारे जीवन तक दुःख हुआ करेगा, इसलिये हिंसा करनेवालेसे भी चोरी करनेवाला बडा दुष्ट है, इसमें क्या कहना?। चौरीरूप पापवृक्षके, वध, बन्ध, वगैरह, इहलोक सम्बन्धी, और परलोकमें नरक वेदना, फल हैं। चोरी करनेवालेको, मित्र, पुत्र, कलत्र, (स्त्री) भ्राता, (भाई) माता, पिता वगैरह, प्रेम नजरसे नहीं देखते, और उसका सङ्ग भी नहीं करते, क्योंकि चोरको स्थान देनेवाला, अन्न देनेवाला, और उसका सङ्गी भी, चोरकी तरह राजाकी सजाका पात्र होता है, इसलिये जो महाशय, चोरी से दूर रहते हैं, उनको स्वय लक्ष्मीदेवी समीप आके वरती है। संतोष रखनेवाले धर्मात्माओंके अनर्थ, दूर हटजाते हैं, और उनकी, कुन्द कुसुमकी भाति विशुद्ध उज्ज्वल कीर्ति पसरती है, तथा स्वर्गके सुख, उनके करकमलमें आके खेला करते हैं।

बहत्तर है, अग्निकी शिखाका पान करना, और अच्छा है, साँपके मुँहका चुम्बन करना, और उचित है, विषका आस्वाद लेना, मगर पुरुष होके-मनुष्य होके, परद्रव्यका हरण करना, यह बिलकुल बेशरम और अधमपनकी बात है। अन्याय करके पेट भरना, और इस शरीरको भला मनाना, इससे तो गलेपर छुरी फेरके मरजाना बहत्तर है। चोरी जैसा बडा अन्याय करके अधर्मी जीवन गुजारना, इससे तो साधुवृत्तिसे धर्मात्मा बनके अपना पेट भरनेके साथ ही परलोक सुधारना कैसी हजार गुणी उमदा बात है?। मगर साधु होना बडी कठिन बात है, मूखा म-

रना, घर घर भटक कर भीख माँगना लोग अच्छा समझते हैं, दो चार रुपयों के दास बनके जूता उठाना, अच्छी जातिवाले लोग भी पसंद करते, मगर उन्हें दीक्षा लेनेकी बात यदि सुनाई जाय, तो झट वे मुँह मरोड देते हैं, एक भी नहीं सुनते; तरह तरहकी संसारकी दारुण आपदाएँ भोगते हुए भी आदमीका मन साधुवृत्तिकी तरफ नहीं जाता, यह कितना मोहराजाका प्रकोप?, खैर, गृहस्थपनहीमें अगर न्यायरीतिसे चलें, यह तीसरा व्रत बराबर पालें, तो भी बहुत सौभाग्यकी बात है। जिनकी बुद्धि, सामने दिखाई देते हुए परद्रव्य—सुवर्णादिको, पत्थर समझती है, वे, संतोषरूपी अमृतके रससे तृप्त बने हुए लोग, गृहस्थ ही क्यों न हों?, बराबर स्वर्गकी रम्भाके परमप्रिय स्वामीनाथ बन सकते हैं ॥
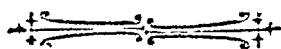
चौथा मैथुन विरमण व्रत—

मैथुन, यानी कामभोगकी चेष्टा, उससे विराम लेना, यह चौथा मैथुन विरमण व्रत कहाता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य पालना।

गृहस्थ लोग, क्या सर्वथा ब्रह्मचर्य पाल सकते हैं?, हर्गिज नहीं, अन्यथा सभी साधु बन जायँगे; गृहस्थ पनमें रहने, और साधु वृत्ति नहीं लेनेका मुख्य उद्देश भोगविलास है, इसी लिये दरिद्र भी आदमी संसार नहीं छोड सकता, साधु नहीं बन सकता। मानलो! कि यह व्रत अगर सब पालेंगे, तो अगाडी सन्तान नहीं बढनेसे सारा संसार, क्या उच्छिन्न न होगा?। वास्तवमें तो ब्रह्मचर्य, शिरपर उठाने पर, साधुवृत्तिमें बाकी रहा क्या?, अर्थात् सब लोग अगर ब्रह्मचारी बन जायँगे, तो साधु भी हो

जायँगे, तो साधुओंसे जगत् जब अटूट भर जायगा, तो साधुमय संसारमें साधुओंको अन्न, पान, वस्त्र वगैरह कौन देगा ?, ।

ससारमें ऐसा कभी न हुआ, और न होगा कि सारे ससारके मनुष्य, साधु हो जायँ । क्या धर्मका रास्ता बतानेसे, धर्मका उपदेश देनेसे, सब लोग धर्मात्मा बन जाते हैं ?, नहीं, तो फिर ब्रह्मचर्यका उपदेश देनेसे, सब लोग कैसे ब्रह्मचारी बन सकते हैं ? । यह तो शास्त्रकारों वा उपदेशकों को मालूम ही रहता है, कि हमारे उपदेशका असर सबों पर नहीं पडेगा, और नहीं पड सकता, तब भी सामान्य तया जो उपदेश करते हैं, वह इसी लिये, कि कोई कोई भद्र परिणामी—अच्छे लोगोंको यह उपदेश रुच जाय, और तदनुसार प्रवृत्ति बन जाय। दुनियाँ अच्छा काम करें, या बुरा काम करें, इससे, उपदेशक महाशयोंको कुछ लाभ वा क्षति नहीं है, तहाँ भी उपदेशक महाशयोंका जो उपदेश परिश्रम होता है, वह, सिर्फ परोपकार करनेके लिये, ससारमें, जिन किन्हीं, थोडे बहुतोंको धर्मका उपदेश रुच जाय, और धर्म प्रवृत्ति बन सके, एव, बेचारे अज्ञान–मोह वशसे दुर्गतिमें गिरते रुक जॉय, इसी उद्देशसे, दूसरेकी भलाईमें अपनी भलाई समझते हुए उपदेशक महाशय, उपदेश कार्यमें प्रवर्त्तते हैं, यही बात हमारी न्याय कुसुमाञ्जलिमें न्याय कुसुमाञ्जलिमें, चौथे स्तबक के २६ वें श्लोकमें भी बताई गई है—

"सत्याऽसत्यपथाह्यनादि समयादायान्तिनित्यस्थिता-
स्तिर्यक् श्वभ्र-मनुष्य-देवगतयोऽप्युद्घाटिताः सर्वदा ।
अस्माकं पुनरेति गच्छति नवा स्वच्छन्दवृत्तौ नृणा
भव्यान्तःकरणप्रबोधविधये त्वेता गिरः साम्प्रतम्"।१।

अर्थ—सत्य और असत्यमार्ग, अनादिकालसे चले आते हैं, ऐसा कोई समय न आया, न आवेगा कि संसारमें सिर्फ सत्य ही धर्मका आदर हो, और असत्य धर्मका सर्वत्र अभाव हो, अ- र्थात् सत्य, असत्य धर्म, नित्य, सदा–हमेशा स्थायी हैं । और तिर्यञ्च, नरक, मानव, और स्वर्ग, ये चार गतियाँ नित्य–हमेशा खुली हैं । और संसारमें प्राणीवर्ग, कैसी भी स्वच्छन्द प्रवृत्ति करें, एतावता हमको कुछ विशेष नहीं, अर्थात् हमारा कुछ जाता नहीं, और हमको कुछ मिलता नहीं, तहाँ भी यह जो हमारा उपदेश परिश्रम है, वह सिर्फ भव्य–सज्जनों के अन्तःकरणोंको धर्मकी तरफ खींचने के लिये ।

अच्छी चीजके गुणोंकी जरूर तारीफ करनी चाहिये, अच्छी चीजको लोगोंसे ग्रहण करानेका उपदेश करना, यह कोई अन्याय नहीं, जब यही बात है, तो ब्रह्मचर्यका उपदेश भी सा- मान्यतया सबपर अगर किया जाय तो क्या हर्ज है? ।

वादी–ब्रह्मचर्यका उपदेश सब लोगों पर करते हों, या जिन किन्हीं को? ।

ज्ञानी–सामान्य रूपसे सबों पर ।

वादी–सब क्या ब्रह्मचर्य स्वीकार करेंगे? ।

ज्ञानी–नहीं ।

वादी–तो फिर सबों पर क्यों उपदेश छोडना? ।

ज्ञानी–तो किनको उपदेश देना? ।

वादी–जो ब्रह्मचर्य पालनेवाले हों, उन्हींको ।

ज्ञानी–यह पहले कैसे मालूम पडे? ।

वादी–बात तो ठीक है, मगर सबको उपदेश तब ही दिया जाता है, जब कि सभी, उपदेशको स्वीकारनेवाले हों ।

ज्ञानी–मगर यह तो बताओ! कि पहले कैसे मालूम पड सके कि इतने ही उपदेशके ग्राहक होंगे?.

वादी–सबको उपदेश देनेसे सब अगर ब्रह्मचारी हो जायँगे तो।

ज्ञानी–हो जायँ तो हो जाने दो, अच्छा ही है, तुम इस बातकी चिंता काहेको करते हो?।

वादी–सबको ब्रह्मचारी होने पर ससारका सत्यानाश हो जायगा, यही बडी भारी चिंता लग रही है।

ज्ञानी–ससारका सत्तानाश होता हो, तो होने दो, इसमें फिजूल तुम चिंतासे क्यों मरते हो?।

वादी–संसारका नाश हो तो साथ साथ हमारा भी नाश हो ही जाय, तो अपनेकी चिंता किसको न होवे?।

ज्ञानी–तुम्हारा नाश होगा, तो क्या तुम्हारी आत्माका भी नाश होगा? हर्गिज नहीं।

ब्रह्मचर्य–साधुवृत्ति पालनेसे, अगर सभी मोक्षमें चले जायँ, ससारी जीव कोई भी न रहे, अर्थात् ससारमें कोई भी जीव न भटके, तो बहुत ही अच्छी बात है; सब जीव मोक्ष आनन्दमें अगर मग्न हो जायँ तो इससे बढकर और क्या अच्छा चाहिये। सभी प्राणिओंके मोक्षमें जाने से, अगर ससार शून्य हो जाता हो, ससारका सत्तानाश हो जाता हो, तो भले हो जाय, होना ही चाहिये, विना, ससार शून्य हुए, सभी जीव परमानन्दी नहीं बन सकते, अतः सभी प्राणिओंको परमानन्दी होनेके लिये संसारका उच्छेद होना बहुत उमदा है, कल ससारका उच्छेद होता हो, तो आज ही क्यो न होता, मगर हो नहीं सकता, जब, सब जीव, भिन्न भिन्न प्रकृतिवाले हैं, तो सब धर्मात्मा हर्गिज नहीं बन सकते, मगर उपदेश तो सबको देना चाहिये, जैसे व्यापारी

लोग, दुकान पर बैठे बैठे माल बेचते हैं, वैसे ही उपदेशक महाशय, धर्मका माल बेचते हैं, जिनकी इच्छा होगी, जो माल देख खुश होंगे, वे ही माल को स्वीकारेंगे, मगर मालके यथायोग्य गुणोंकी तारीफ तो अवश्य करनी चाहिये, और लोकमें करते भी हैं। धर्मरूपी माल सबके लिये ग्रहण करनेके योग्य है, इसलिये सबके आगे सामान्य तया धर्म ग्रहण करनेका ढंढोरा पिटवाते हैं, किंतु धर्म प्राप्त करना, सबको शक्य नहीं, इसलिये सब प्राणी, धर्म नहीं स्वीकार सकते। दुकान, यदि की जाय, तो ग्राहक लोग आ सकते, अन्यथा नहीं, उसी तरह धर्मका उपदेश अगर किया जाय, तो अलबत्ते किन्हीं लोगोंको कुछ न कुछ फायदा जरूर हो सकता है, इसीलिये, गृहस्थ धर्म—समकीत मूल बारह व्रतोंमें, इस चौथे ब्रह्मचर्य व्रतके उपदेश करनेका प्रसङ्ग आया है। अगर सब, ब्रह्मचारी—साधु हो जायँ, तो उनके लिये तालाव, घी, और वृक्षके पत्र, पुडी होने को तय्यार ही बैठे हैं, यदि संसारका अभ्युदय, ऐसी पराकाष्ठापर आ जाय, तो क्या ही अच्छा हो ?, मगर ऐसी सम्भावनाएँ—ऐसी कल्पनाएँ जो करनी हैं, वे, मानो ! अफीमके नशेमें आके ठंढे पहरमें ठंढी ठंढी बातें मारनी हैं।

अगर सर्वथा ब्रह्मचर्यका पालना न हो सके, तो अपनी स्त्री में सन्तोष बुद्धि रखकर, दूसरी स्त्रियों के साथ विषय चेष्टासे विराम लेना——दूर रहना भी देशतः ब्रह्मचर्य ही है। जो लोग, सब जगह अपने वीर्यको बरसाते रहते हैं, वे आखिरमें नपुंसक प्राय बन जाते हैं, जिस आधारपर, हमारा दिमाग, हमारी मनोवृत्तिका प्रसार, और हमारा शारीरिक बल ठहरा है, उसी को मूलसे उखाड देना, यह कितनी मूर्खता, और कितना आत्मघात ?। हमारी वार्त्तमानिक भारतदशा पर जब खयाल

करते हैं, तब छाती के धडकनेके साथ गरम २ श्वास छुटता है, अहा ! वह भारतका निष्कण्टक आराम कहाँ ?, वह आराम, कहाँ किधर चलागया ? ऐसे तेजोहीन, प्रज्ञाहीन, बलहीन पुत्रोंको भारतदेवी कबसे जन्म देने लगी ?, सचमुच हमारे भारतवासी लोग, विषय लम्पट हो के—रमणी रमणमें अत्यासक्त हो के शोध खोल विद्या-विज्ञान के उद्यमसे जबसे प्रमादी हुए, तबसे उत्तरोत्तर सन्तान, ऐसी बलहीन उत्पन्न हुआ करती हैं कि यौवनही अवस्था में, वीर्य वृष्टि कर हतवीर्य बनती हुई शरद् ऋतु के जल रहित मेघकी तरह ऊपरका सूखा घनाटोप करती हैं।

इस ब्रह्मचर्य देवता का, भारतमें, जबसे सत्कार, कम होने लगा, तबसे उसके प्रकोपित प्रतापसे भारतप्रजा विद्या विज्ञान, इल्मसे इतनी पीछे रह गई, कि जिन पर, यह सिरताजका वैभव भोगती थी, उन्हींके जूतों के चमडे पर हाथ फिराने तक अधम अवस्थामें आ गई। हा ! वह सिरताजका वैभव, भारत को वापिस कैसे मिले ?, वही उच्चदशा, भारतको कब प्राप्त हो ?, वह, भारतकी लक्ष्मीदेवी, भारत सन्तानों को कब दर्शन दे ?, वे अकलङ्क, भारत साम्राज्य रूपी दिनकरके प्रखर-तरुण किरण गण, अपना प्रताप, चारों तरफ कब फैलावें ?, वे, नितान्त भासुर, विद्या कमल, जो कि अब्रह्मचर्य रूपी हिमसे भस्म प्राय बन गये हैं, फिर कब पुनरुज्जीवित बनें, भारतकी सूखी दौलतकी नदीके खोदनेका प्रतीक्ष्ण कुठार-वह ब्रह्मचर्य, भारत प्रजाके कर कमलमें फिर कब अलङ्कृत हो ?।

भारतमें ब्रह्मचर्य देवताका, पूर्वकी तरह अगर अच्छा सत्कार होने लगजाय, तो सन्देहही क्या है कि भारत प्रजा, अपनी सिरताज वैभव की गद्दीपर, फिर आरोहण करे, और, उच्चदशा में पहुँचे। लक्ष्मीदेवीका पिता, ब्रह्मचर्य, अगर तुष्ट हो जाय,तो

फिर लक्ष्मीदेवी का कहना ही क्या ? लक्ष्मी देवी का दर्शन क्या, लक्ष्मीदेवी ही भारत प्रजा की गोदमें लेटती रहेगी ! अब्रह्मचर्यरूपी घनघोर बादल यदि हट जाय, तो, भारत साम्राज्य रूपी सूर्यके सहस्र किरणोंके चारों तरफ प्रसरनेका पूछना ही क्या ? । अब्रह्म-चर्य रूपी हिमका विध्वंस हो जाने पर, विवेक रूपी निर्मल जल-के अभिषेककी निरन्तर धारासे, विद्या कमलवन, देखिये ! फिर कैसा पुनरुज्जीवित होता है, इतना ही क्यों ?, वह ब्रह्मचर्य रूपी भास्कर भी, अपने हजार किरणोंसे उस विद्या–कमलवनको नितान्त प्रफुल्लित–विकसित करनेमें प्रयत्नशील रहेगा । भारतकी सूखी दौलतकी नदीके खोदनेका ब्रह्मचर्य रूपी कुठार, सन्त महान्तों ही के पाससे मिल सकता है, वहीं जानेसे, वहीं प्रार्थना करनेसे, उनकी तरफ परमपूज्य बुद्धि रखनसे, वे सन्त लोग, उस कुठारको, कानोंके मार्गसे, उपदेश रूपी मान्त्रिक प्रयोगद्वारा धीरे धीरे प्रवेश कराते हैं । मुनिजनोंसे कानोंके मार्गसे पैठाता हुआ, वह कुठार, भीतर घुस करके एकदम दिमागकी भूमी पर अव-स्थित रहता है, बस ! इसी दिमाग रूपी हृत्कमलमें जब ब्रह्मचर्य–कुठार स्थिर रहेगा, फिर देख लीजिये ! प्रजा, भारतकी सूखी दौलतकी नदी, उस कुठारके, दे दनादन, प्रहारसे ऐसी उत्तम खोदाई जायगी कि उसी दम, शनैः शनैः दौलतरूप जलका प्र-वाह छूटेगा, और क्रम क्रमसे बढता हुआ द्रव्यका पूर, भारतमें इतना फैल जायगा, कि मानो !, भारतका स्थल–भूमी भी दू-सरा रत्नाकर, प्रतीत होने लगेगा ।

ये सब प्रभाव, ब्रह्मचर्य देवताके समक्ष, इसीका मन्त्र ज-पना पहिले परमावश्यक है । यह देवता, रुष्ट हुआ जो अनर्थ करता है, वह अनर्थ, भूत, पिशाच, राक्षस, यक्ष, यम वगैरह से भी नहीं हो सकता । यह देवता, तुष्ट हुआ जो प्रसाद करता है,

वह प्रसाद, इन्द्रोंको भी देना मुश्किल है। मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र साधनेकी प्रथम प्रस्तावना–प्रथम भूमिका यही ब्रह्मचर्य है। इसी ब्रह्मचर्यके अनुचर बने हुए लोग, त्रिलोकीके अग्रगण्य हो गये हैं।

यह पक्की बात है कि जिसका ब्रह्मचर्य धन लूटा गया, वह, अपने मनोरथोंकी सिद्धि करनेमें बहुत स्खलनाएँ पाता है। ब्रह्मचर्य व्रत रूपी एक ही चिन्तामणि, यदि प्राप्त हो जाय, तो फिर औरों के लिये कोई मुश्किली नहीं है। सूर्य के बिना दिवस, चन्द्र के बिना रात्रि, गन्ध के बिना पुष्प, देवता के बिना मन्दिर, पुत्र के बिना घर, नेत्रों के बिना मुँह, कवित्व बिना विद्या, निमक बिना भोजन, पानी बिना तालाव, नायक बिना सैन्य, वृक्षों के बिना जगल, मनुष्य के बिना घर, विद्या बिना गहनें, दातृत्व गुणके बिना धनी और बिना श्रोतृगणके सभा, जैसे नहीं शोभती, वैसे ही आदमी भी ब्रह्मचर्यके बिना नहीं शोभता। सब गुणोंका शिरोमणि, सब नियमोंका अफसर, सब धर्मोंका अधिपति, सब सुकृतोंका नायक, सब मन्त्रोंका मुकुट, सब तपोंका राजा, सब कष्टोंका अग्रेसर, सब क्रियाओंका मुख्य प्राण, सब विद्याओंका पिता, सब लक्ष्मीका खजाना, सब इज्जतका निधान, सब पुण्योंका ब्रह्मा, सब सुखोंका बीज, सब अभ्युदयोंका मेघ, सब देवताओंका वशीकरण, सब दुःखोंका घातक, सब पातकोंका पातक, सब इच्छाओंका पूरक, सब अनिष्टोंका चूरक, सब भोगोंका कारक, सब रोगोंका वारक, सब विघ्नोंका मारक, सब अशुभोंका हारक, सब शत्रुओंका छेदक, सब दुर्जनोंका भेदक, सब चिन्ताओंका शोषक, सब आशाओंका पोषक, चतुर्दिगन्त विजयका मोषक, ज्यादह क्या कहें?, त्रिलोकीका मालिक, तीन जगत्का साम्राज्य दाता, और तत्सद्ब्रह्म—सनातन परमपदके द्वारकी भी कुंजी (ताली) रखनेवाला, ब्रह्मचर्य, साक्षात्

ईश्वरी शक्ति है, इसे पाले हुए लोग, और दोषोंसे भरे हुए भी परमपद्के द्वारकी कुंजी वडे मजेसे पालेते थे, यह, इतिहास दृष्टिसे सबोंको विदितही होगा।

जो विषय सुख, आपात मात्रमें, अर्थात् शुरू शुरूमें, रमणीय, आनंददायक मालूम पडने पर भी अन्तमें किंपाक फलकी तरह वडा भयङ्कर होता है, उसे कौन महात्मा, आदरमें ला सके ?। जिस मैथुनसे कम्प, ताप, परिश्रम, मूर्च्छा, भ्रम, ग्लानि, बलका क्षय, और क्षयरोग वगैरह वडी आपदाएँ जाग उठती हैं, वह मैथुन, धर्मात्माको पसन्द नहीं पडता। मैथुनके प्रसङ्गसे, स्त्रीके योनि यन्त्रमें पैदा हुए, बहुत सूक्ष्म जन्तुओंके ढेर, पीडाते हुए मरजाते हैं, यह, वात्स्यायन वगैरह काम शास्त्रकार भी जब मंजूर करते हैं, तब भी उसमें, जो अत्यासक्ति करनी है, वह साफ पुरुषपदसे नीचे उतरजाना है। स्त्रीके सम्भोगसे, जो पुरुष, अपने कामज्वरको शान्त करना चाहता है, वह गँवार, सचमुच घृत (घी) के होमसे आगको ठंढी करना चाहता है।

यह पक्का समझें कि भोग भोगनेसे कभी इच्छाकी तृप्ति होने वाली नहीं, जो मनुष्य भोगोंमें बावला बन जाता है, और अपने शरीर को भी नहीं गिनता, उसकी आयु कम हो जाती है, उसकी मौत शीघ्र होती है। हम नहीं समझते कि विषयभोगमें इतना क्या देखा, और क्या इतना मिलता होगा? कि उसमें लोग, अत्यासक्त हो के अपने जीवनपर कीचड फेंकते हैं। जिस वक्त मनमें कामका आवेग बढ जाय, उस वक्त बावला न बनके पांच ही मिनट तक यदि स्थिरता की जाय, तो फिर वह, आपही आप शान्त हो जायगा, और अपनेको, अपनेही उन्मादकी हंसी आवेगी, ऐसी ही स्थिरता करनेका अभ्यास अगर हो जाय, तो जरूर कामका आवेग ढीला पड जाता है, इसमें कोई शक नहीं।

मगर मनको समझानेके लिये पहले विवेककी बडी जरूरत है, मनको धीरे धीरे समझानेसे जरूर उन्माद शिथिल पड जाता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं कि कामभोगकी सामग्री मौजूद रहते, अथवा पारदारिक कर्म करनेके प्रसङ्गपर, थोडे समयकी, सद्विचार पूर्वक, प्रतीक्षा की जाय, तो धीरे धीरे मन ठंढा पडेहीगा, मगर, थोडे समय तक धीरज पाना बडा मुश्किल है, विषयान्ध आदमी, एक मिनिट तक स्थिर नहीं रह सकता, वह तो अपने दिमागके सत्त्वको तोडनेमें ही कमर कसे रहता है। उल्लू, दिनमें, और कौआ, रातको, अन्धा रहता है, पर कामी पुरुष, रातदिन, कामान्ध रहता है। उस आदमीने हाथमें आया चिंतामणि न सम्हाला, जिसने मनुष्यत्व पाके, कामभोगमें सारा जीवन विताया।

गृहस्थ लोग, सर्वथा ब्रह्मचर्य न पालें, तो नहीं सही, मगर परदार गमन, कभी न करें। एक नहीं तो दो स्त्रिओंके साथ विवाह करो!, मगर परस्त्रीगमन कभी नहीं करना चाहिये। अपनी स्त्रीके साथ भी अत्यत आसक्तिसे भोगविलास करना मना है, तो सर्व पापोंकी खानि, परस्त्रीके सेवनकी तो बात ही क्या करनी?। अपने पतिको छोड, दूसरे पुरुषके साथ रमण करती हुई, क्षणिक चित्तवाली चञ्चल परस्त्रीमें कौन अक्लमन्द विश्वास कर सकता है? परस्त्रीके साथ रमण करनेवाला मनुष्य, अव्वल तो, उस स्त्रीके पति, और राजा वगैरहसे डरता रहता है, और, "इसने मुझे देख लिया, इसने मुझे जान लिया, इस लिये यह आ रहा है" इस प्रकार व्याकुल चित्तसे कपता रहता है, अतः, प्राणका सन्देह करनेवाला, बडा, वैर-विरोधका कारण और इस लोक व परलोकसे विरुद्ध, परस्त्रीगमन, दूरसे वर्जना चाहिये। परस्त्रीगमन करनेवाले को, इस जन्ममें, सब द्रव्यका ह-

रण, जेलमें पकडा जाना, और इन्द्रियका छेद वगैरह, भयङ्कर आपदाएँ उठानेके साथ परलोकमें घोर नरकका अतिथि होना पडता है। अपनी स्त्रीके रक्षण करनेमें निरन्तर प्रयत्न करता हुआ पुरुष, अपनी आत्मामें अपनी स्त्रीपर शंकाके मारे हमेशा क्लेश पाता रहता है, तो ऐसा ही दुःख, सबको समझकर किसीकी स्त्रीके साथ बदमाशी नहीं करनी चाहिये। समझो! कि परस्त्री गमनका दुरन्त फल तो दूर रहा, मगर परस्त्रीकी तरफ रमण करनेका मनोरथ करनेसे भी **रावण** की तरह इस जन्ममें बडी बुरी हालतसे मरना पडता है, इतनाही क्यों?, परलोकमें भी नरककी कुम्भीमें जलना पडता है। **रावण** जैसे महा पराक्रमी, त्रिलोकीके कण्टक राजे भी, परनारीके गमन करनेकी इच्छामात्रसे अपने कुलका क्षय कर गये, तो पामरोंकी क्या बात?।

लावण्यकी लहरिओंसे लहरती, सौन्दर्यकी काञ्चनसी किरणोंसे दमकती, महा विदुषी, और बडी कलावन्ती ही परस्त्री क्यों न हो?, मगर उसका सङ्ग शेठ सुदर्शनकी तरह कोई अक्लमंद नहीं करता। परस्त्रीका आलिङ्गन करना मूर्खों ही का काम है। जिसके हृदय भवनसे विवेक–चोपदारका देशनिकाल हो गया हो, जिसके मनोमंदिरमें विवेक–प्रदीप शान्त हो गया हो, जिसकी आत्मभूमीमें विवेक–द्वारपाल निद्रामें फँस गया हो, वही दुर्भाग्य आदमी, परनारीका पण्ढ बनता है। समझ लो! कि उसकी किस्मतको पाप–बादलने घेर ली, जो परस्त्रीके गमन करनेसे विराम नहीं लेता। उसकी तकदीरके बारह बज गये, जिसका शरीर परनारीसे मलिन हुआ। उसके बुरे दिन आ गये, जिसने परदारागमनमें फँस, राजकीय, और ईश्वरीय कानूनों पर आग दी।

पुरोहितकी स्त्री कपिला, राजेकी रानी अभया और देवदत्ता वेश्याके साथ, एकान्तमें समागम होने पर, इतना ही नहीं, बल्कि उनकी तरफसे बहुत बहुत करुणा पूर्वक प्रार्थनासे भोग करनेका आग्रह, तथा आखिरमें उनकी तरफसे प्रतिकूल उपद्रव भी होनेपर, जिसके शरीरका एक भी रोम न चला–न कम्पा न कामार्त्त हुआ, उस महात्मा शेठ **सुदर्शन** की क्या तारीफ करें ?, धन्य है इसके मात पिताको, जिन्होंने पहाडकी तरह धीर हृदयवाला, न्यायप्रिय ऐसा महात्मा प्रकट किया। गृहस्थ होके भी ऐसी पराकाष्ठा पर ब्रह्मचर्यको चढा देना, यह छोटीसी बात नहीं। इसके हृदयङ्गम धर्म–वैराग्य–विवेकका ढेर कितना चमकता होगा, कि जिसके हृदयपर कामदेवके कुल शस्त्रोंका प्रहार पडने पर भी कुछ भी असर न पडा। अपनी **मनोरमा** स्त्री पर पूर्ण संतोषी, छः पुत्रोंका बाप शेठ सुदर्शन, ऐसी अद्भुत निश्चल मनो वृत्तिसे किसके हृदयका आकर्षण नहीं करता है ? । महात्मा हो तो सचमुच ऐसा ही हो।

धन्य हो! धन्य हो! **विजय** शेठ और **विजया** शेठानी को, जो कि दोनों–दम्पति, विवाह ही से, एक पलगमे सोते सोते निर्मल–निष्कलङ्क ब्रह्मचर्य पाला करते थे। यह बात किसे चमत्कारमें नहीं डूबाती, कि नवीन तरुण–दमकती उम्रमें स्त्री–पतिको, संसार भोगसे बिलकुल हट जाना, और ब्रह्मचर्य पालना। इसका मूल सारांश यह है कि छोटी उम्रमें विजया कुवरीने एक साध्वीके पास कृष्णपक्षमें ब्रह्मचर्य पालनेका कसम लिया, जब विजयकुमार, एक मुनिराजके पास शुक्लपक्षमें ब्रह्मचर्यका नियम ले ही बैठा था। अब भवितव्यतावशात् उन दोनोंका परस्पर विवाह हुआ। विवाहित होके रातको पलगपर ज्यों दोनों सो-

नेकी तय्यारी करते हैं, त्यों ही विजया स्त्री बोल उठी कि स्वामिनाथ! इस कृष्णपक्षमें ब्रह्मचर्य पालनेका मुझे नियम है इसलिये इसपक्षके जानेके बाद शुक्लपक्षमें कामक्रीडा मेरेसे होगी, तब विजयशेठ भी बोले-" तब तो अपने दोनोंको हमेशा ही ब्रह्मचर्य व्रत पालना पडेगा. क्योंकि मुझे भी शुक्लपक्षमें ब्रह्मचर्य पालनेका सौगन्द है; खैर!, यह तो अच्छा ही हुआ। प्राणांत कष्टमें भी नियमका घात नहीं करना चाहिये। वास्तवमें तो भोगोंमें रक्खा ही है क्या?; गँवार आदमी ही भोगोंमें बावले बनते हैं। शूरे, दाने, उदार हृदयके पुरुष तो, भोगोंको दुःख ही समझते हैं, अच्छा हुआ, अमूल्य चिंतामणि-ब्रह्मचर्य धर्म, हाथमें आया, बस! अब हमेशा अपने ब्रह्मचारी रहेंगे"। (यह भावना, विजया स्त्रीमें भी प्रतिरोम रम गई)।

देखिए! सज्जनो! दम्पतीकी मनोभावना; विवाहके पहले वे ब्रह्मचारी थे, इसमें तो कहना ही क्या?। मगर, नवीन तरुणयौवनकी प्रसरती रोशनीमें भी, विवाह करके जिन्होंने कुछ भी अपना मन कलंकित न किया, सर्वथा ब्रह्मचर्य पाला, यह अद्भुत चमत्कार, किसके नेत्रोंको स्थिर नहीं कर सकता। स्त्रीके साथ सो जाना, एक ही पलंगपर दोनों, भर्त्ता-प्रियाको सो रहना, और ब्रह्मचर्य पालना, यह कितनी ईश्वरी शक्ति? कितना महात्मापन? और कितनी, उनके मनोमन्दिरमें अध्यात्मयोगकी मुसलधारा बरस रही होगी?, जभी कर्मोंका क्षय हो सकता है, और मोक्ष प्राप्त होनेमें विलम्ब नहीं होता। खाते, पीते, संसारके भोग भोगते अगर मोक्ष मिल जाता, तो सब कोई मोक्षमें चले जाते। खाना, पीना, अच्छे अच्छे कपडे पहिनना, और तरुण सुन्दरीके सुवर्ण कलश जैसे पयोधरोंका मर्दन करना, चन्द्रवदनाके चन्द्र-से-मुँहसे अमृत पीना, कमललोचनाके कमलसे बड खुशबूदार

मुँहकी खुशबू लेना, हरिणनेत्राके प्रवाल सरीखे अधर बिम्बका चुम्बन करना, कृशोदरीके कृश उदरको हाथमें पकड़ना, प्राणप्रिया रमणीके पतली कमरको मूठीमें धर लेना, सुमुखीके केलवृक्षके स्तम्भ जैसे उरु स्थलपर हाथ फैलाना, और अर्धाङ्गनाके कुल अङ्गोंके साथ अपने अङ्गोंको बिलकुल मिला देना—एक कर देना, इससे क्या हुआ ?, यह बात तबही रुचे, यदि, जीव मात्रपर गर्जेना करता यमराजा, प्राणीगणोंको लुकमे बनाता रुक जाय।

जब हमारे शिरपर मौतका डङ्का बज रहा है, सब जीवोंकी जीवन स्थिति स्थिर नहीं रहती, सब प्राणी, भिन्न भिन्न प्रकृतिसे प्रतिक्षण नये नये परिणाममें पलटते रहते हैं, तो उचित नहींहै कि क्रूर भोग—रसोंमें फँस कर अपनी आत्माकी दौलतको खाक की जाय। इस संसारमें रहना कितना, अर्थात् एक भवकी स्थिति कितनी ?, अव्वल तो यही शरीर, अनेक प्रकारके रोगोंका भण्डार है, तो फिर इसपर किस बुद्धिमानका मोह बढ सके ?। घुन कीडोंसे काष्ठकी तरह, व्याधिओंसे, यह शरीर हमेशा सडता रहता है। ऐसा कोई समय न था, न आया, न है, न आयगा— न होगा, कि कोई प्राणी, काल—मौतको ठग कर, मरनेसे बच जाय; क्या राजा, महाराजा, बलदेव, वासुदेव, और क्या चक्रवर्त्ती, और तीर्थंकरभी क्या, सबके लिये—सारे संसारके लिये, हमेशा मृत्युकी पुकार चला करती है, किसी न किसी पर हमेशा काल—राजाकी चिट्ठि आया करती है। संसारमें किसीको क्या ?, किन्हीं को, थोडेको क्या ?, बहुतोंको, परिमितको क्या ?, अपरिमित प्राणिओंको लुकमे बनाता हुआ काल—राक्षस, कभी, किसीदिन, किसी समय, किसी वक्त और किसी मिनट भी विराम नहीं पाता। रूप, लावण्य, कान्ति, शरीर, धन, सभी, तृणके अग्रभागपर रहे जल बिन्दुकी तरह चपल—विनाशी

हैं। आज कलमें नष्ट होने वाले इस असार शरीरसे, उत्तम तपस्या यदि निकाली जाय, तो क्या उमदा बात है ?। वेही महात्मा सच्ची तारीफके पात्र हैं, और उन्हींने इस अनित्य—असार शरीरसे आलादर्जेका फल निकाल लिया, जिनने मोक्ष-फलको देनेवाली तपस्या द्वारा भोग-पिशाचोंका देश निकाल कर दिया।

वे लोग, जगत्के सिरताज बन गये, जिन्होंने अदृष्ट कल्याण-कामिनीका संग छोड, योग रसका आनन्द लूटा। धन्य हो ? **स्थूलभद्रजी** को धन्य हो ?, जिस महर्षिने ऐसा तो आत्मिक पुरुषार्थ फैलाया, आजतक सज्जन वर्ग जिसकी परलोक गत आत्माकी तरफ बडे अचम्भेके साथ स्थिर आँखोंसे खयाल कर रहे हैं, वाह ! कलिजुग ! वाह ! तेरे को भी थप्पड लगाके स्थूलभद्र महर्षिजीने आत्मिक योगका जो प्रकाश फैलाया है, आज भी वह, जन समाजकी नजरोंको शीतलता दिये विना नहीं रहता। क्या बतावें ?, जो स्थूलभद्र, बारह वर्षतक वेश्याके घर पर रह कर, तरह तरहके भोग भोगते रहे, बाद साधु-मुनि-योगी--महर्षि-श्रमण बने, इतना ही नहीं बल्कि महर्षि हो कर, उसी वेश्याके भवनपर आके चतुर्मासा रहे; देखिए ! महाशयो !, इधर, वेश्या, तरह तरहकी इन्द्रियपोषक, हृदयोत्तेजक, कामोद्दीपक रसोई बनाके साधुजीको भिक्षा देती है, और साथ साथ अनेक प्रकारके हाव भाव-काम कटाक्ष, मदनलीला वगैरह बहुत उपाय, साधुजीको भोगमें फँसानेको किया करती है, और उधर षड् (छः) रसोंसे सुन्दर गरिष्ठ माल उडानेके साथ, सब प्रकारकी वेश्याकी काम चेष्टाएँ, स्थूलभद्रजी नजरमें ले रहे हैं, तो भी मजाल है कि ऋषिजीका मन, अणुमात्र भी फरके !। बारह वर्ष तक सेवी हुई वेश्याके घरमें, साधु हो के रहना, और कामोद्दीपक भोजनको प-

चाना, तथा वेश्याकी–तरह तरहकी मदन लीलओंको लात मारना, इत्यादि लोकोत्तर वहादुरी करनेवाला कोई हुआ है, तो यह मान स्थूलभद्रजीको घटता है, जो कि आगके कुंडमें गिरने पर भी तनिक भी न जले। काजलकी कोठरीमें रहने पर भी काला पनसे वच गये। यह काम जैसा तैसा नहीं, वहुतसे योगीजनोंसे भी नहीं हो सकनेवाला, यह, कामराजेके किलेके जीतनेका काम, जो स्थूलभद्रजीने कर दिया है और इसीसे जो, इनकी तारीफकी सडक पक्की वन्धाई गयी है, वह, क्योंकि वर्ष करोडों वर्ष जाने पर भी क्या टूट सकती है?, कभी नहीं। और ऐसे ही महर्षिओंसे तो भारतवर्ष, आध्यात्मिक विद्याकी तारीफ पर अव भी सबसे वढकर चढा है, यह सवको विदित है।

मानव कर्त्तव्योंमें आलादर्जेका कर्त्तव्य–ब्रह्मचर्य, जिस आदमीसे रुष्ट हो गया, उसका सर्वस्व, नष्ट हो गया। उसकी तकदीरसे देवता लोग रुष्ट हो जाते हैं, जो ब्रह्मचर्यसे रुष्ट हो जाता है। गृहस्थके जितने धर्मके कानून हैं, अर्थात् ये जो वारह व्रत गृहस्थोंके लिये वताये जाते हैं, वे सब, सिवाय ब्रह्मचर्य, नदीको उपमावाले हैं, और वे सब नदिया ब्रह्मचर्य रूपी समुद्रमें झुका करती हैं।

यह तो पहले कहही चुके हे कि सर्वथा ब्रह्मचर्य अगर न पाला जाय, तो अपनी स्त्री (एक क्यों?, अनेक ही क्यों न हों?) के साथ भोग करनेमें सतोप रखें, मगर परस्त्रीकी तरफ तो कदापि नजर न करे, इतनाही नहीं, वल्कि जिसका कोई स्वामी नहीं है, उस साधारण स्त्री–वेश्याके साथ भी गमन करते रुकें। जिसके मनमें कुछ, वचन–वोलनेमें कुछ, और करनेमें कुछ, ऐसी, चंचल द्रव्यकी दासी, वेश्या, एकान्त आपदाओंका जन्म देनेवाली है। मास मिश्र, शरावकी वदवूसे भरा, और अनेक क्षुद्रोंके दु-

गन्धी मुँहोंसे चुम्बित किया गया, वेश्याका मुंह, किस शाणे आदमीके मुँहके चुम्बनमें आसकता है ? । उच्छिष्ट—जूठा भोजन खानेसे परहेज करना अगर लाजिम समझा जाता है, तो बडा ताज्जुब है कि गणिकेके जूठे मुँहके चुम्बनसे परहेज करना नहीं मुनासिब समझा जाता । वेश्याका नाम ही जब साधारण स्त्री है, तो यह पक्का समझो! कि वेश्या, किसीकी कदापि नहीं होनेवाली, वह तो सिर्फ द्रव्यकी दासी है; जिसके पास द्रव्य है, और वह यदि वेश्याके चरणोंमें गिरनेको आया, फिर पूछना ही क्या ?, वह कोढी—महारोगी, और हजारों मक्खिओंसे सेवाता हुआ ही क्यों न हो ?, वेश्याके लिये तो दौलतरूपी लावण्यका पूर ही होगा, और इसीसे, वेश्या, उसे कामदेवकी तरह कृत्रिम, बाहरके—झूठे प्रेमसे-भरे नेत्रोंसे देखती है । मगर खयाल करें, वह कोढी—रोगी आदमी तो क्या ?, किंतु वास्तवमें खूब सूरत रूप—लावण्य—कान्ति वालाही आदमी क्यों न हो ? , जब वेश्याका पेट भरते हुए उसकी दौलत खतम हो जायगी, और वेश्याको मालूम पडेगा कि ' यह भीख मँगा हो गया ' फिर देख लीजिए ? उस वेचारे कामी पुरुषकी दशा, क्रूर स्वभाववाली गणिका, घरसे निकलते हुए उस पुरुषका कपडा तकभी खींच लेगी । वेश्याके मोहमें बावला बना आदमी, न देव, न गुरु, न बान्धवों, और न तो मित्रोंको मानता है । सच पूछिए तो गणिकाएँ, कूट कर्म करनेमें राक्षसिओंसेभी आगे निकलनेवाली हैं, और छल—प्रपञ्चोंमें, शाकिनियोंसे भी बढने वाली हैं, तथा चपलता स्वभावमें तो विजलीकाभी अतिक्रमण करने वाली हैं । इस लिये जिसको धर्मकी गरज है, वह, अव्वल तो यह गुण जरूर हांसिल करे कि परस्त्री तथा साधारण स्त्रीका परित्याग करे । अपना वीर्य इधर उधर यदि बरसाते

रहोगे, तो भारत की प्रजा को कैसे बढासकोगे ? । देखा है इतिहासमें, पहले भारतभूमीमें कितनी वस्ती थी, और आज है कितनी ? । ऐसी ही दुष्ट आदत, अगर अपना पद मजबूत करेगी, तो भारतवर्षमें आज जितनी आबादी है, उससे भी क्षीण होती हुई कितने हिस्सेमें जाके ठहरेगी, यह कहनेकी कोई जरूरत नहीं। जिसने अपना धर्म न पाला, अपने धर्मका संरक्षण न किया, वह आदमी, अपनेका रक्षण नहीं कर सकता। धर्मका रक्षण क्या है ? मानो ! अपने जीवन ही का रक्षण है–अपने जीवनका सुधार है। जिसने ब्रह्मचर्य-धर्मको धारण न किया, अपनी आत्मामें स्वदार संतोष रूपी अमृतको गोपन न कर रक्खा–अथवा तो परदार-गमन रूपी विष (जहर) का सेवन करना बन्द न किया, उसका, चारों ओरसे सौ मुँहका विनिपात (पडना) होता है। इसमें कोई संदेह नहीं।

पुरुष की तरह, स्त्री भी, बराबर धर्मके काबिल होनेसे, पर पुरुषका संग जरूर छोड दे। जभी तो, ऐश्वर्य करके कुबेरके समान, और रूप करके कामदेवके सरीखे, प्रति वासुदेव **रावण** जैसे पुरुषका तिरस्कार करके सीताने अपना शीलव्रत ऐसा तो अकलङ्क–निर्मल रक्खा, कि आजतक उस अबलाकी गुण श्लाघा जगत्में मशहूर है। दूसरी स्त्रियोंमें आसक्त हुए पुरुष और दूसरे पुरुषोंमें आसक्त हुई स्त्रियाँ, भव भवमें नपुंसक तिर्यञ्च, और बडे दुर्भाग्यवाली होती हैं। चारित्रका मुख्य प्राण और परब्रह्मका अद्वितीय–असाधारण कारण–ब्रह्मचर्यको निष्कलङ्क पालता हुआ पुरुष, देवताओंसेभी बराबर पूजाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। ब्रह्मचर्यके प्रभावसे लोग, दीर्घआयुवाले, सुसंस्थानवाले, मजबूत संघननवाले, और बडेही तेज तथा पराक्रम

वाले होते हैं। दीवारको साफ किये सिवाय, उसपर जो चित्र बनाया जाता है, उसीकी उपमामें, ब्रह्मचर्यके विना मन्त्र, तन्त्र वगैरहकी उपासनाभी समझनी चाहिए।

और व्रतोंका,–जीव, ईश्वर, पुण्य, पाप, परलोक, मोक्ष वगैरहको नहीं मानता हुआ नास्तिक, बराबर अनादर कर सकता है, मगर ब्रह्मचर्यके विषयमें तो उसकीभी पूर्ण सम्मति है। नास्तिक लोग तकभी ब्रह्मचर्यका जब बडा सत्कार करते हैं तो फिर आस्तिकपनका अभिमान रखनेवाले महाशय, उसे अगर न पालें, तो कितना शर्मिन्दा पन ? । नास्तिक लोगभी, अपने शरीर, दिमाग, और मनोबलकी मजबूताई करनेके लिये अर्थात् अपनी अक्लकी किरणोंको प्रदीप्त करने के लिये, अपने शरीरको कलियुगका भीमसेन बनानेके लिये, और अपने दिमागसे बृहस्पति, और वाग्बलसे वाचस्पतिको भी परास्त करनेके लिये, ब्रह्मचर्य रूपी मुख्य प्राणकी पूर्ण रक्षा करते हैं–ब्रह्मचर्य–मन्त्रकी उत्तम उपासना करते हैं, तो अफसोस है कि आस्तिक हो के आस्तिकोंसे आस्तिक्य गुणका अव्वल रास्ता—ब्रह्मचर्य न पाला जाय।

उसने, जगत्में अकीर्त्तिका ढंढोरा पिटवाया, उसने, अपने गोत्रमें स्याहीकी कूची फेर दी, उसने, चारित्र धर्मको जलांजलि दे दी, उसने, गुणगण रूप बगीचेमें आग उठा दी, उसनें सकल विपदाओंको, मिलनेके लिये संकेत दिया, और उसने मुक्ति मंदिरके द्वार मजबूत बंद करदिये, जिसने, त्रिलोकीका चिंतामणि भूत निर्मल शीलव्रत खंडित किया।

उनकी, शेर, सांप, जल, आग वगैरहकी विपदाएं नष्ट होजाती हैं, उनका कल्याण वैभव, पुष्ट होता है, उनके कार्योंमें

देवता तकभी सहायक बनते हैं, उनका यश स्फुरायमान होता है, उनके धर्मको उत्तेजन मिलता है, उनके पाप नष्ट होजाते हैं, और उनके लिये स्वर्ग व मोक्षकी सम्पदाएं दूर नहीं, जो पुण्यात्मा, शील रत्नको अखडित पाला करते हैं।

निर्मल शील, कुल कलंकको हटा देता है, पाप कीचडका लोप करता है, सुकृत का पोषण करता है, प्रशंसा, इज्जतको फैलाता है, कहातक कहें, देवता लोगोंको भी नमाता है, और कठिन उपद्रवोंको देशनिकाल देने पूर्वक स्वर्ग व मोक्षको लीलामात्रमें संपादन कराता है। शीलका प्रभाव इस कदर चमत्कारी है कि शीलवंत पुरुपके लिये, आग—पानी, साप—पुष्पमाला, शेर—मृग, पर्वत—पत्थर, जहर—अमृत, विघ्न—उत्सव, शत्रु—मित्र, समुद्र-तालाव, और जंगल-घर, बनजाता है।

धन्य है उन महात्माओंको, जिन्होंने स्फुरायमान विवेक रूपी वज्रसे काम, राग, मोह वगैरह पहाडोंको चूर्ण बना दिया। धन्य है उन ऋषियोंको, जिन्होंने अपनी प्राण प्रियाको शाकिनी समझ छोड दी, और परम वल्लभ लक्ष्मी देवीका भी सापनीकी तरह तिरस्कार करदिया, और तरह तरहकी रमणीयताओंसे पूर्ण-प्रासादको विलकी तरह छोडदिया। वही महापुरुप है, जो, परनारीके मुंह देखने ही में अंधा है। सौन्दर्यका एक खजाना, कलाओं करके कलाधर समान, लावण्यकी तरंगिणी, पुष्ट और उंचे स्तनोंसे अलस गतिवाली—गजगामिनी, पाताल कन्याकी आकृतिवाली और नवीन यौवनकी झलकती किरणोंसे मनुष्योंके हृदयों पर आक्षेप करने वाली औरतका संग, जिनने छोडदिया, उन महा पुरुषोंके हृदयगोचरमें, हताशबना हुआ कामदेव, क्या अवकाश पा सकता है ? , नहीं। शृंगार रूपी पेडके लिये मेह समान, रसिक क्रीडाका प्रवाहमय, कामदेवका प्रियबन्धु, चतुर

वचन रूपी मोतिओंका समुद्र, सौभाग्य लक्ष्मीका निधिभूत, और औरतोंके नेत्ररूपी चकोरोंको खुश करनेमें पूर्णचन्द्र, ऐसे नवीन यौवनको प्राप्त किया हुआ महात्मा, अगर मनोविकारकी मलिनतासे कलंकित न वने, तो उसके लिये कितनी तारीफकी हद्द बांधी जाय, यह नहीं कह सकते।

अधीरज वालोंको स्त्रीका दर्शन हुआ, फिर कहनाही क्या? उसीदम शरमका देश निकाल हो जाता है, ब्रह्मचर्य व्रतका विध्वंस हो जाता है, ज्ञानका संकोच हो जाता है, विवेक ढँक जाता है। समझ गये होंगे, ये सब किसकी वदौलत?, औरतके मुख चन्द्रमाके दर्शनसे जागरित हुए कामदेवकी। एकान्त वाससे लब्धावकाश वना हुआ कामदेव, विरक्त मुनिजनोंकेभी चारित्र धर्मको फौरन लंगडा वना देता है–साधु–धर्मका सिर काट लेता है–संयमका भर पेट खून पी लेता है।

विचार करनेपर बुद्धिमानोंकी बुद्धिमें यह स्फुरण होना स्वाभाविक है—कामदेवकी कथा, किसके लिये आनन्ददायक नहीं है?, औरत, किसको, प्रिय नहीं है?, लक्ष्मी, किसको वल्लभ नहीं है?, किसके मनमें पुत्र न रमता होगा?, गरम गरम स्वादिष्ट भोजन, तथा शीतल पानी, किसको रुचिकर न होगा?, परंतु ये सव इच्छाएँ तवहो करनी उचित हैं—यह सव दुनियाकी मौज तवही लेनी उचित है, अगर प्राणिओंके ऊपर, आशारूपी पेडके काटनेमें कुठारभूत मृत्यु, (मौत) गुंजता हुआ रुक जाय। मोही पुरुष, मोह सागरमें डुवकी मारता हुआ यही मिथ्या अभिमान करता रहता है कि "यह मधुर आकृतिवाली मेरी औरत है, यह मेरा प्रेमालु पुत्र है, यह मेरा खजाना है, यह मेरा विनीत सहोदर (भाई) है, यह मेरा आलिशान मंदिर है, परंतु मूर्ख,

यह नहीं विचारता कि " शरीरकी छायाका रूप लिया हुआ-काल, मेरे पास हमेशा फिरता रहता है " ।

इस ससार वृक्षका मुख्य बीज कामभोग है, वही मोक्षका परम दुश्मन है। उसे हटानेके लिये मनोभवनमें वैराग्य रसका प्रवाह सतत रखना अत्यावश्यक है। मन, अगर वैराग्य रंगसे तरंगित न हुआ, तो समझ लो! दान तप वगैरहका प्रयास निष्फल है। समस्त कलाएँ पायीं, तो इससे क्या हुआ ?, उग्र तपस्याएँ कीं, इससेभी क्या हुआ ?, विश्व व्यापि-रज्जत सम्पदाका उदय जाग उठा, इससेभी क्या हुआ ?, यदि आत्मघटमें विवेक प्रदीपकी किरणें स्फुरित न हुई, अतः मनको पाक रखनेके लिये विवेककी बडी आवश्यकता है, विवेकही धीरजका जन्म दाता है, और धीरजका यही प्रभाव है कि मनुष्य, अकृत्य कर्म तरफ एकदम नहीं कूद सकता।

कामी लोग, औरतोंके काले व कुटिल केशपाशकी तर्फ नजर लगाते हैं, मगर स्त्रीके सगसे-स्त्रीके आलिंगनसे पेदा होनेवाली दुष्कर्म सततिको नहीं देखते। कामी जन, स्त्रियोंकी भ्रूवल्लरी (भौंहवेल) का वर्णन करते हैं, पर यह नहीं जानते कि यह सचमुच मोक्ष मार्गके मुसाफिरोंके लिये सामने खडी रही हुई-प्रबल अन्तरायभूत काली नापनी है। रमणियोंके भगुर स्वभाववाले नेत्र विक्षेप, देख, गँवार खुश होते हैं, परतु यह नहीं जानते कि हमारा ही जीवन क्षणभगुर है। कामिनिओंकी नाककी डांडीकी, लोग, तारीफ करते हैं कि यह कैसी सरल है ?, कैसी उन्नत है ?, परतु यह ख्याल आवेही कहासे ? यह कामकी डांडी, हमारे कुलकी इज्जतको चूर्ण करनेवाला एक मुसल है। दुलहिनोंके कपोल (गाल) में प्रतिबिम्बित हुए अपनेको, कामी जन, देख आनन्द पाते हैं, परन्तु ससार नदीके कीचडमें चिपकनेका कष्ट नहीं

है; न सज्जनता, न दान न गौरव, और न स्वपरका हित देखती है। निरंकुश कामिनी, पुरुष पर इतना असमंजस आचरती है, कि जो क्रुद्ध हुए शेर, सिंह, सॉप वगैरहसे भी न वन सके। प्रकट किया है दुर्मद जिन्होंने, ऐसी वनिताएं, हथनीकी तरह संतापको पैदा करने वाली हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

वह कोई मंत्र, स्मरणमें लाओ !, वह कोई देव, उपासना से प्रसन्न करो ! जिससे स्त्री पिशाची, अपने शील जीवितको ग्रस्त न करे। जो जो दुःशील, स्त्री संबंधी, शास्त्रोंमें सुनते हैं, और लोकमें प्रख्यात है, वे, काम विह्वल-वनिताओंकी तर्फसे वरावर संवादित होते है।

विजली अगर स्थिर हो जाय, पवन अगर कहीं वैठ जाय, तौभी स्त्रियोंके हृदयोंमें स्थिरताका अवकाश होना वडा संदिग्ध है, वगैर मंत्र तंत्रोंके भी स्त्रियोंसे चतुर लोग ठगाये जाते हैं, यह कैसी स्त्रियोंकी चतुराई !, ऐसी विद्या, जहांसे औरतें पढी होंगी, वह, ब्रह्माका भी गुरु हो, तो ना नहीं। स्त्रियोंकी मृषावादकी वैदुषी, चतुराई, कोई अलौकिक ही मालूम पडती है कि प्रत्यक्ष भी अकृत्यों को, वे, क्षण वारमें छिपादेती हैं।

पागल आदमी, लोष्ट (ढेले) को जैसे सुवर्ण समझ लेता है, वैसे मोहान्ध आदमी, स्त्री के संगसे पैदा हुए दुःखको सुख समझता है। जटी, (जटा धारी) मुंडी, शिखी, मौनी, नग्न, वल्की, तपस्वी, और ब्रह्मा भी क्यों न हो ? , यदि वह स्त्री भोगी है-अब्रह्मचारी है, तो हमें पसंद है ही नहीं। खुजली (खाज) को शान्त करनेके इरादेसे खुजलता हुआ मनुष्य, सुख समझता है, पर वास्तवमें वह दुःखही है, उसी तरह कामके दुर्वार आवेश-के वशीभूत हुए लोग, मैथुन क्रीडाको सुख समझते हैं, पर दर

असलमें वह दुःखही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जो कवि लोग, नारियोंको सुवर्ण प्रतिमासे उपमा देते हैं, वे, छोड स्त्रियोंको, सुवर्ण प्रतिमाहीको आलिंगन करके क्यों तृप्त नहीं होते ? । स्त्रीका जो अग निन्दनीय है, और गोपनीय (काबिल ढाकनेके) है, उसीमें लोग यदि अनुरागी बनें, तो और किससे वैराग्य पावेंगे ? । चन्द्रमा, पुडरीक कमल, कुन्द पुष्प वगैरह दिव्य चीजोंको, मास व हड्डीसे बने हुए स्त्रियोंके अङ्गोंके उपमान (उपमा) बनाकर मोही कवियोंने फिजूल कम कीमतकी करदी । कहा प्रभावशाली तेजोमय, आल्हाद जनक चन्द्र वगैरह दिव्य पदार्थ, और कहा बदबूका खजाना, अशुचिका ढेर, हड्डीकी पुतली औरत ? । चूतड, छाती, थनका, बोझवाली-औरतको, उरस्थल (छाती) पर चढाकर मन्दमति लोग, रतिमें मग्न हो जाते हैं, परतु उसवक्त यह विवेक नहीं आता कि-" ससार महासागरके म य भागमें डुबानेवाली शिलाको, मैं कठमें बांध रहा हू " । स्त्रीको छातीपर चढाना क्या है, मानो ! बडी शिलाही गलपर बाधनी है । जैसे शिलाको गलेमें बाधनेपर, जलाशय नहीं तैरा जाता, वैसे स्त्रीरूपी शिलाको गलेमें बाधनेपर ससार महासागरका पार पाना नहीं हो सकता, उल्टा ससारमें डुबना ही होता है ।

स्त्री, भव समुद्रकी वेला है । स्त्री, काम देवकी राजधानी है। स्त्री, मदोन्माद करनेवाली मदिरा है । स्त्री, विषय रूपी मृग तृष्णाका मरु स्थल है । स्त्री, महामोह अधकारको फैलाने वाली कृष्णपक्षी रात है। स्त्री, विपदाओंकी खान है, इसलिये, हे सज्जनो ! दुलहिनमें अधे मत बनो ! । यद्यपि काम राजाका प्राबल्य चारों ओर छा गया है, और हरि, हर, ब्रह्मा, पुरन्दर वगैरह माहात्मा लोगोंकी भी हजामपट्टी, कामदेवने अच्छी की है, इसीलिये तो भर्तृहरिशतकमें भर्तृहरि फरमा रहे हैं कि—

"शम्भु स्वयम्भु हरयो हरिणेक्षणानां
येनाऽक्रियन्त सततंगृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचर चरित्रविचित्रिताय
तस्मै नमो भगवते कुसुमध्वजाय" ॥ १ ॥

अर्थः—

"भगवान् कामदेवको नमस्कार हो, जिसने, सारी दुनियाको वश करनेके साथ दुनियाके नायक–शम्भु, (शंकर) स्वयम्भु, (ब्रह्मा) और हरि, (कृष्ण) कोभी औरतोंके घर कामके गुलाम–खिदमतगार बनाये, इसीसे कामदेवकी शक्तिका प्रभाव, वचनोंके गोचरमें नहीं आसकता, जभी तो कामदेव, भगवान् शब्दसे व्यवहृत हुआ"।

तथापि काम, क्रोध, लोभ, मोह राग द्वेषको चूर्ण बनानेवाले, निष्कलंक, निरंजन निर्लेप, ज्योतिः स्वरूप, परमात्मा वीतरागदेवके परमविशुद्ध, शांति संपादक, स्थिरता उत्पादक और भवरोगका अद्वितीय औषध, भूत–शासनके सेवक–भक्त–उपासक बने हुए श्रमणोपासकों का, कामदेव, सर्वथा नहीं तो देशतः जरूर, ढीला पडजाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यह पक्की बात है कि सद्विवेक रूपी रत्नोंकी पैदायश, सिवाय वीतराग शासनके, और कहीं नहीं है, जभी तो अन्यत्र कषायोंको उत्तेजन मिलताहै, जब शांतिका विशुद्ध आनन्द, वीतराग भक्त पा रहे हैं।

कामदेव अफसर, इन्द्रियों पर सवार होके जगद् विजयकी यात्रा करनेको निकलता है। इन्द्रियाँही कामदेवके विजय होनेमें

पूर्ण सहायता देती है। इन्द्रियॉ मजबूत तो कामदेव मजबूत, इन्द्रियाँ ढीलीं, तो कामदेव भी ढीला। अन्वय व्यतिरेक न्यायसे इन्द्रियों के अनुसार कामदेवकी गति है, इसलिये काम को दुश्मन समझने वालों को चाहिए कि पहले इन्द्रियॉ ही ढीलीं करदें, इन्द्रियोंसे, उच्छृखलता वृत्ति को छुडवादें, तबही आत्मतत्त्वका ज्ञान जाग उठेगा और धार्मिक प्रवृत्ति बन सकेगी। जो इन्द्रियॉ, आत्माको कुमार्गसे लेजाने के लिये, उन्मत्त घोडेका आचरण करती है, जो इन्द्रियॉ, कृत्याकृत्यका विवेक रूपी अभ्यतर जीवनको नष्ट करनेमें काले सापकी तरह आचरण करती हैं, जो इन्द्रियाँ, पुण्यपेडको उखाडनेमें प्रतीक्ष्ण कुठारकी चेष्टा करती हैं, वे इन्द्रियाँ, अगर न जीताई, तो पुरुषने क्या जीता?, इसलिये पुरुषार्थ का अव्वल उपयोग, इन्द्रियों के जीतने में होना चाहिए। जो इन्द्रिया, प्रतिष्ठाको, निष्ठा (समाप्ति) में लेजाती है, जो इन्द्रियॉ, नय निष्ठाको कतल करदेती हैं, जो इन्द्रियां, अकृत्योंमें बुद्धिको स्थापन करती है, जो इन्द्रियॉ, विषय रसमें प्रेमको फैलाती हैं, जो इन्द्रियॉ, विवेकका खून पीनेमें कमर कसती रहती है, और जो इन्द्रियॉ, विपदाओंकी जननी होके बैठी है, उन्हें, वशमें लाके अनुभव रसका तात्त्विक आनन्द उठाना चाहिए। मौन करो!, घर छोडो!, क्रियाकाडका अभ्यास करो!, वनमें वास करो!, स्वाध्याय करो!, तप तपो!, परतु जहातक श्रेय–कल्याणके पुजके निकुजको भजन करनेमें महावायुके बराबर इन्द्रिय गणको न जीतो, वहा तक सब अनुष्ठान, भस्ममें घी के होमनेके बराबर हैं, इसलिये उच्छृङ्खल इन्द्रियोंको वशकरनेमें जरूर प्रयत्न करना चाहिए, तबही धर्मकी सडक पायी जायगी, और ब्रह्मचर्य चिन्तामणि, हाथ आयगी। ब्रह्मचर्य चिन्तामणि हाथ आयी, फिर कहनाही क्या?,

जो आप चाहेंगे, वह, चाहनाके उत्तर काल भावी ही समझ लीजिए, इष्टवस्तुके सम्पादनमें इच्छा ही कारण होगी—इच्छा ही, इच्छाके विषयको प्रकट करनेमें कारण बनेगी, इतनाही क्यों?, इच्छाकी विषयतामें नहीं आया हुआ भी स्वर्गादि वैभव, ब्रह्मचारीके पास उपस्थित होजाता है, और मुक्ति देवी भी, ब्रह्मचारीकी तरफ प्रेम पूर्वक नजरोंको टकटकाती रहती है, बस! पूरा हुआ सकल गुणोंका आधार—ब्रह्मचर्य व्रत।

पांचवाँ स्थूल परिग्रह विरमण व्रत.

अर्थात्

परिग्रहका परिमाण—

असंतोष, अविश्वास, और आरम्भ, इन तीनोंको दुखके देनेवाले, और मूर्च्छासे पैदा होनेवाले समझकर मूर्च्छाके कारणभूत परिग्रहका परिमाण करना चाहिए। वेशक! गृहस्थोंको धन विना नहीं चल सकता। सारे संसारका मुख्य स्तम्भ जैसे स्त्री है, वैसे द्रव्य—दौलतभी है। तौभी, लक्ष्मीदेवी हमारे आधीन नहीं होनेसे, दौलतकी एकदम गुलामी करना अच्छा नहीं। हमारी इच्छाके मुताबिक जब लक्ष्मी नहीं मिलती तो फिर आशातरंगोसे फिजूल क्यों बहना चाहिये। प्राणिओंकी आकाश जितनी चौडी आशाकी परिसमाप्ति होनी बहुत कठिन है। यह पक्की बात है कि जितना जितना लाभ वढेगा, उतना उतना लोभ अपना पद जरूर जमावेगा। ज्यों ज्यों दौलतकी पैदायश बढती जाती है, त्यों त्यों मनुष्योंका हृदय चक्र, तृष्णा कल्लोलोंसे ज्यादह घूमा करता है।

ज्ञानदृष्टिसे सोचनेपर यही स्फुरण होता है कि किसके लिये लोभान्ध होकर लक्ष्मीकी क्षुद्र गुलामी करना ?। जितनेसे अपना काम, चलजाता हो–पार पडजाता हो, उससे अधिक तृष्णामें क्यों फँसना चाहिये। बाहरकी दौलतसे, बाहरका मतलब सिद्ध होने परभी आत्माकी गरज न सरे, तो बाहरकी दौलत किस कामकी ?। दर असलमें अपनी आत्मिक गरज सारनेका उद्यम पहिले करना मुनासिब है, जब दौलतरूपी शराबका नशा, आत्मिक सम्पदा साधनेमें कट्टी शत्रुता रक्खा करता है, इसलिये सब दौलतका परिमाण करना चाहिये, नहीं तो दौलतरूपी शराबका मूर्च्छारूपी नशा, दुःखदायक–असंतोष, अविश्वास, और आरंभका जन्म दिये सिवाय नहीं रहता। क्यों कि जहाँ दौलत रूपी शराबके पान करनेकी मर्यादा नहीं रही, वहाँ मूर्च्छा रूपी नशेके बढनेका वेग क्यों कर रोका जायगा ?। और मूर्छा रूपी नशेके वेगसे आदमी जब बेचैन पड़ेगा, तो फिर असंतोष, अविश्वास, और आरंभकी आपदाओं के जुलमका पूछना ही क्या ?। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूर्छावान आदमी धनसे तृप्त नहीं होता। और उत्तरोत्तर आशा–पिशाचीसे पिटाता हुआ मनुष्य दुःख ही को पाता रहता है। यह जुल्म असंतोषका है, इस जुल्मको हटानेके लिये असंतोषकी माँ– मूर्च्छाकी नाक काटलेनी चाहिये–मूर्च्छा राक्षसी का संहार करना चाहिये। मूर्च्छाका शिकार करने पर असंतोषही क्यों ? पूर्वोक्त–अविश्वास और आरम्भ भी पतला पड जाता है। और मूर्च्छाकी मजबूताई होने पर असंतोषकी तरह अविश्वास भी दुःखका खैरात करने लग जाता है। जहाँ मूर्च्छाने अपना पाँव जमाया, वह मनुष्य, इतना तो शंकाशील रहता है कि नहीं शंका करनेके योग्य–सज्जन महाशयोंसे भी धन हरणकी शंका के

मारे सब जगह चौंकता रहता अपने धनकी रक्षाके उपद्रव हीमें गटपट किया करता हैं। मूर्च्छावान् मनुष्य, सबपर शंकाशील रहता–किसीपर भी विश्वास न करता हुआ रातको निश्चल नींद लेनेको भी भाग्यशाली नहीं बन सकता, यह भला किसकी बदमाशी ?, मूर्च्छाके लडके अविश्वास ही की। इसीके प्रभावसे तो आदमी किसीका मित्र–प्रेमी नहीं बन सकता। अविश्वासी पुरुषके साथ, उसके स्वजन वर्ग भी, नाराज–नाखुश होके, उसे नादान–नालायक समझकर सम्बन्ध तोडदेते हैं। जैसे असंतोषी पुरुष, भरपेट सुखसे नहीं खाता, अच्छे–उमदे कपडे नहीं पहिनता, वैसे ही अविश्वासी आदमी भी पलंगपर निश्चित निद्राकी सुधा वृष्टिकी अपूर्व मजा नहीं ले सकता।

वास्तवमें असंतोषी व अविश्वासी आदमीको धर्मकी प्राप्ति नहीं होती, कारण यह है कि देव व धर्मको प्रकाश करनेवाले गुरुदेव–गुरु महाराज ही पर अव्वल तो असंतोषी व अविश्वासी आदमीकी पूज्य बुद्धि नहीं रहती, वह तो यही मनमें शंकाता रहता है कि "कहीं मेरेसे गुरु महाराज पैसा न खर्चावें, अथवा मेरेसे पैसा खर्चनेको न कहें ?"। सज्जनो ! जहां इस शंकाने अपना स्थान बनालियां, उस आदमी में, गुरु पर, पूज्य बुद्धि रही कहोगे ?, कभी नहीं; और गुरु पर पूज्य बुद्धि न रही, तो देव, व धर्मकी भी आराधना न बन आवे, इसमें कहना ही क्या ?। असंतोषी आदमी तो अपना भंडार ही भरना रातदिन चाहता रहता है, तो उस आदमीकी चमडी टूटने पर भी दमडी न टूटे, इसमें कोई ताज्जुब नहीं। अविश्वासी आदमी भी, स्त्रीके शरीरपर नपुंसककी तरह द्रव्यपर हाथ ही फिराता रहता है, रातदिन शंकाकी गरमीके मारे उसके दिलको तसल्ली नहीं मिल सकती। ये दो (असंतोष व अविश्वास) मूर्च्छाके फल बता

दिये। अब तीसरा फल आरम्भ भी बडा कष्टदायक है। इसमें सन्देह ही क्या है कि मूर्च्छावाला मनुष्य, प्राणातिपात–जीवहत्या वगैरह ऐसे आरम्भोंमें फँस जाता है–जिनका विपाक परिणाम, बडा कडुवा होता है। लडका बापको, बाप लडकेको, भाई भाईको, और भतीजा चचेको. द्रव्यकी मूर्च्छाके वेगमें आके ऐसी हद्दपर ला छोडता है, कि दूसरे शत्रुसे भी यह काम न बन आवे। धनलोभी पुरुष, धनकी मूर्च्छासे झूठी साक्षी देता हुआ महा मिथ्या वचन बोलता है। रास्तेमें मुसाफिरोंको लूटनेका काम करता है। धनवानोंके घरोंकी दीवारोंको तोडनेमें कमर कसता है। तथा अनेक प्रकारके ऐसे कष्ट कार्योंको उठाता है कि उससे चौथे भागका भी कष्ट अगर धर्मके लिये उठाया जाय तो मुक्ति स्त्रीका भी थोडा कुछ आकर्षण जरूर हो सके, इसमें क्या सन्देह, मगर बडी ताज्जुबकी बात है कि धर्मकी तरफ लोगोंकी नजरें नहीं जाती, जब विषयों तरफ अनायास ही मनकी चपलता चला करती है। हम खूब समझते हैं कि संसारके सब विषय अनित्य, एव बडे दुःख देनेवाले हैं, फिर भी हमारा नालायक मन, उनकी तरफ दौडा करता है, यह कितनी कमजोरी ?। मनुष्योंकी चंचल चित्तवृत्ति, लोभ समुद्रमें तृष्णा कल्लोलोंसे चक्कर खाती हुई गोतोंसे भँवरमें ऐसी डुबकी मारा करती है कि मानो ! त्रिलोकीका मालिक होनेको न चाहती हो ?, परन्तु यह बडी मूर्खता है कि फिजूल तृष्णा–आगसे जलते रहना। बेशक ! धनार्जनके लिये उद्यम करना चाहिये, मगर नीतिकी सडकसे–विशुद्ध हृदयसे उद्यम करना मुनासिब है, ता कि धन पैदा करनेका मुख्य मतलब भी पार पड जाय, और आत्मवृत्तिमें तामसिक–प्रकृतिके चक्रसे पुण्य रूपी पेड न कटे जायँ। यह स्पष्ट है कि परिग्रह (धन धान्य आदि) का बहुत भार उठाता हुआ प्राणी, नावकी तरह ससार–समुद्रमें डूब जाता है।

तथा च जैनेन्द्र आगम—

"महारंभयाए, महा परिग्गहयाए, कुणिमाहारेणं, पंचिंदियवहेणं जीवा नरयाउयं अज्जंति"।

इस आगमसे, नरककी आयुके उपार्जनके रास्ते वतलाते हुए भगवान्, महा आरम्भ और महा परिग्रहसे भी अधोगतिमें गिरना फरमाते हैं। तात्त्विक नजरसे विचार करने पर परिग्रहमें त्रस रेणु मात्र भी कोई गुण नहीं है। और दोष तो वडे वडे पहाड जितने प्रकट दिखाई देते हैं। अलवत्ते द्रव्यसे परमात्माका मन्दिर, प्रतिमा, ज्ञान—पुस्तकें वगैरह वहुत धर्मके कार्य अच्छी तरह वन सकते हैं—परमात्माका मन्दिर, द्रव्यसे वनवाया जाता है, जीर्ण मन्दिरका पुनरुद्धार, द्रव्यसे कराया जाता है, शास्त्रजी लिखवाना, छपवाना, तथा शास्त्रजीका चैत्य वनवाना यह भी द्रव्यसे होता है, पाठशाला, गुरुकुल, दानशाला, वगैरह भी पैसेसे वनते हैं, एवं साधु—साध्वीजीको अन्न, वस्त्र, पात्र, वगैरहका दान देना यह भी द्रव्यके ताल्लुक है, और इन कामोंसे पुण्यानुवन्धी पुण्य—महा पुण्यका जन्म होता है, और क्रूर कर्मोंकी निर्जरा होनेका भी सम्भव रहता है; तो भी यह पक्की वात है। कि परिग्रहमें त्रस रेणुमात्र भी गुणका सम्भव नहीं है, और दोष पहाड जितने वडे हैं।

वडे अचम्भेकी वात है कि परिग्रहसे जिनालय—मूर्ति वगैरह पूर्वोक्त धार्मिक कार्योंकी पैदायशद्वारा पुण्य प्राप्ति वतलाते हुए भी पीछेसे जाके त्रसरेणुमात्र भी गुण, परिग्रहसे निकाल देते हो ?।

इसमें कोई अचम्भेकी वात नहीं, अचम्भा मात्र नहीं समझनेका है। वस्तुदृष्टि यह है कि पूर्वोक्त धार्मिक कामोंका

द्रव्यसे जो होना है, सो आरम्भसे पैदा किये दौलतका सदुपयोग करना है। पापसे पैसा पैदा किया, तो उसे अच्छी जगहमें खर्च करनेसे पैसेका सदुपयोग होता है। पाप किये विना पैसा पैदा नहीं हो सकता, इसलिये पैसेको ससारके कामोंमें खर्च करनेके साथ, धर्ममें भी अवश्य खर्च करना चाहिये। इससे परिग्रहमें कोई स्वतत्र गुण सिद्ध नहीं हुआ। पापोंसे बचनेके लिये पापजन्य दौलतको धर्ममें खर्च करनेसे बतलाइए 'क्या नया गुण हुआ ? कीचडमें पॉव बिगाडके जलसे धोनेमें क्या कोई नया गुण मिल सकता है, कभी नहीं। अगर गुण ही के लिये द्रव्यकी पैदायश करना अभिमेत हो, तो यही शास्त्रकारोंका फरमाना है कि द्रव्यको मत पैदा करो ' बरन् अपरिग्रही साधु बन जाओ ', इसीसे नया गुण पैदा होगा। मगर धर्मके लिये जो दौलतको चाहता है, उसको द्रव्यकी इच्छा न करना ही अच्छा है, वही परम धर्म है। धनकी इच्छामें धर्मका जन्म देनेकी ताकत है ही नहीं, जिसमें, जिसके पैदा करनेकी ताकत न होगी, उससे उसका जन्म कभी न होगा, वीतराग ही दशा सर्वोत्कृष्ट धर्मकी अव्वल माता है, अगर मोक्ष मिलनेकी आशा रखते हो, मोक्ष पानेकी उत्कट आकाक्षा धरते हो, तो समझो ! कि कहीं पर घूमा करो ' मगर फिर फिर के वीतरागही दशा पर आना पडेगा, और तब ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, इन तीनोंकी समष्टि–समुच्चयावस्था बनेगी। यही समष्टि–समुच्चयावस्था, मोक्षका एक अद्वितीय–असाधारण मार्ग है, इसी सिद्धि–मुक्तिकी शिलापर आके सबने सिद्धिशिलापर आरोहण किया है, करते है, और करेंगे,। यह समष्टि, द्रव्यके साथ बडी शत्रुता रखती है, द्रव्यकी चाहना होते तक इस समष्टिका उदय हर्गिज नहीं होता।

राग (परिग्रह) से, उदयावस्थाको प्राप्त नहीं हुएभी–राग

द्वेष आदि दूषणगण, प्रगट हो जाते हैं, यहांतक परिग्रहकी गर्मीका जुल्म है, कि मुनिजनोंके भी चित्त चंचल होते हैं। संसारका मूल आरम्भ है, और आरम्भोंका हेतु-परिग्रह है, इसलिये उपासक (श्रावक) को चाहिए कि परिग्रहका परिमाण करे-नियम रक्खे। परिग्रहरूपी ग्रहसे आविष्ट हुए पुरुषको, विषयरूपी चौर लूटते हैं, और कामदेवरूपी आग, संताप देती है, तथा स्त्रीरूपी व्याधगण (शिकारी लोग) रोक लेते हैं। बहुत परिग्रहसे भी तृष्णावन्तोंको तृप्ति नहीं होती, उलटा असंतोष ही वढता जाता है, कहा है—

" सुवण्णरुप्पस्स य पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया " ॥१॥

अर्थ—

संसारमें, सोने रूपेके, कैलासजितने असंख्य पहाड, प्राप्त हो जायँ, तौ भी लुब्ध आदमीको उनसे कुछ नहीं होता (संतोष नहीं होता)। सचमुच इच्छा-आशा, आकाश जितनी अनंत परिमाणवाली है। स्वयम्भूरमण समुद्रका पार पाना सम्भवित है, मगर आशा महोदधिका थाह पाना अति कठिन है। सौ रूपयेवालेको हजार पर मन जाता है। हजार पानेपर लक्षाधिपति होना चाहता है। लक्षाधिपति होनेपर कोटीश्वर होना चाहता है। कोटीश्वर होनेपर राजा, महाराजा वनना चाहता है। महाराजा हुआ, " सम्राट्-चक्रवर्ती कव वनूँ " इस इच्छासे घेरा जाता है। चक्रवर्ती हुआ, तो देवताकी संपदा तरफ दिल दौडाता है। देव-

ताभी हुआ, मगर " जहा तक इन्द्रका लोकोत्तर ऐश्वर्य न मिला वहातक कुछ नहीं, " इस तृष्णामें गोतें मारता है, बस ! आशा का कोई थाह नहीं ।

सगरचक्रवर्ती, साठहजार पुत्रोंसे तृप्त न हुआ । **कुचिकर्ण** ग्रामनेता गायोंसे तृप्त न हुआ । **तिलकशेठ**, धान्यसे तृप्त न हुआ । और **नन्द**राजा, सोनेकी राशिसे सतुष्ट न हुआ । परिग्रहरूपी ग्रहका जोर यहांतक है कि उसके फदेमें आये साधु जन भी, तप श्रुतपरिवार युक्त–शम साम्राज्य सपदासे रहित हो जाते हैं । असंतोषी, चक्रवर्तीको उतना सुख नहीं, असतोषी इन्द्रको भी उतना आराम नहीं, जो सुख, जो आराम, निरभिमानी सतोषी महात्माको है । उसके सन्निधि (पास ही) में महा पद्म वगैरह निधियाँ है, उसका पल्ला कामधेनु नहीं छोडती, और देवता लोग भी उसके किंकर बन जाते हैं जिसको सतोषरूपी गहना अलकृत कर रहा है । क्या सन्देह है कि सतुष्ट साधु लोग, शमके प्रभावसे, तृणके अग्र भागसे भी रत्नोंकी वृष्टि कर देते हैं, और सुरपतियोंसे भी अहमहमिकासे (मैं पहला मैं पहिला इस रीतिसे) पूजाते है ? ।

सन्तोष, समागमें आल्हादमेंका वशीकरण मन्त्र है । सतोष, शरीरकी तंदुरुस्तीका अद्वितीय–असाधारण औषध है । सतोष दारिद्र्यका बड़ा दुश्मन है । सतोष, धर्मनगरके प्रासादमें प्रवेश करनेका अच्छा दरवाजा है । संतोष मोक्षनगरके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है । सतोष, रागरूपी केसरीका भी शिकार करनेवाला है । सतोष, [illegible] पातकका नाश करनेवाला है । संतोष, मन [illegible] संतोष बिना, ऐ मनुष्यो ! त्रिलोकीका साम्राज्य मिले [illegible] अभिलाषाएँ, अपमार्गी–मूर्च्छांका-

नको कोटी उपायोंसे सिद्ध नहीं होतीं, वे संतोषी महात्माको अनायास-अप्रयास ही सिद्ध होजाती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

धन्य है **पुनिया** श्रावकको, जो, दो आनेकी पूंजीमें, "एक दिन वह श्रावक उपवास करे, एक दिन उसकी औरत उपवास करे" इस रीतिसे, घरमें एक जनका बचाव करके उसकी जगह महात्मा धर्मात्माके पात्रमें भोजन देता था, कितनी आश्चर्यकी बात है कि इतनी भयंकर दरिद्रताकी गर्मीमें भी इतना संतोष, इतना धर्मकी ओर खयाल रहना। हमारे कितने ही दौलत मंद साहब तो पेट देवताकी खबर लेते हुए "धर्मका क्या हो रहा है, जातिकी दुर्दशा कैसे दूर हो, " इस बातकी तर्फ नजर भी नहीं झुकाते। कितने ही लोगोंके लिये "चमडी टूटे, मगर दमडी न टूटे " यही बात है। हा! ऐसी दशा, जातिमें कहांतक ठहरेगी? , ऐसे मक्खी चूस लोग, कब धर्म चूस होंगे?।

खयाल रहे कि धर्मका अभ्युदय, खास करके जैसे विद्याके ऊपर आधार रखता है, वैसे लक्ष्मी पर भी आधार रखता है। बेशक! विद्या असाधारण कारण है, तो विद्याके सहायकोंमें लक्ष्मी भी प्रधान कारण है। लक्ष्मीकी सहायता रहित केवल विद्यासे कार्य सिद्धि कठिन देखते हैं, इसलिये धनि लोगोंको थोडीसी तृष्णा हटाकर धर्मकी खबर लेनी चाहिए—धर्ममें पैसेका सदुपयोग करना चाहिए।

धन, धान्य, सोना, रूपा, कुप्य, खेत्त, इमारत, दो पैरवाले मनुष्य—पंखी वगैरह, और चार पांववाले पशु जानवर आदि, यह नव प्रकारका बाह्य परिग्रह है।

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, हास, रति, अरति, भय जुगुप्सा, वेद और मिथ्यात्व, ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं।

ये बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह, संसाररूपी महलको टिकाने वाले बडे थंभे है। परिग्रहरूप प्रचंड बल, वैराग्य शम दम वगैरह मजबूत मूलवाले पेडों को भी मूलसे उखाड डालता है। परिग्रहमें बैठकर जो पुरुष मोक्ष पदकी अभिलाषा रखता है, वह लोहेके नाव से सागरका पार पाना चाहता है। इसमें क्या शक है कि धर्मसे पैदा होते हुए भी बाह्य परिग्रह, धर्मका ध्वंस कर डालते है ?, क्योंकि अरणि लकडीसे पैदा होने वाली आग, लकडीको बराबर भस्मसात् करदेती है।

जो आदमी, बाह्य परिग्रहोंको जीतनेमें समर्थ नहीं है, वह नामर्द, राग द्वेष आदि भीतरके दुश्मनोंको कैसे जीत सकेगा?। अविद्या—अज्ञानताको क्रीडा करनेका बाग, व्यसन—क्लेशोंका समुद्र, और तृष्णा रूपी बडी बल्लीका कन्द है, तो वह परिग्रहही समझना चाहिए। बडी ताज्जुबकी बात है कि लोभान्ध-दौलत मद लोग, निःसंग मुनिओंको धनार्थी समझकर उनसे भी बहुत शंकाशील रहते है।

राजा, चोर, भाग माँगनेवाले, आग, और जलोपद्रव वगैरहसे डरते हुए धनी लोग, दौलतपर इतनी फिक्र रक्खा करते है कि रातको भी पूरी नींद नहीं ले सकते। दुष्काल हो, या सुकाल हो, वन हो, या शहर हो, सभी जगह धनी पुरुष शंका-पिशाचसे पीडाता हुआ दुःखी ही रहता है। वास्तवमें कहने को तो निर्दोष हों, वा दोषित ही हों, मगर निर्धन आदमी जितने दुःखी नहीं, उतने दुःखी, दोषके खजाने-धन लोभमें फँसे हुए धनी आदमी है, । अव्वल तो धन पैदा करनेमें दुःख, धनके रक्षण करनेमें, क्लेश, धनके खर्च करनेमें तकलीफ, और अन्तमें धनका हरण होनेपर बडी ही आपदा धनी आदमीको उठानी पडती है। धनी

पुरुष, दिनरात " इस प्रकार धनको पाऊँ, इस रीतिसे धनको रक्खुं, इस तरीकेसे धनको बढाऊँ " इसी चिंताके मारे खूनको पानी बनाता है, मगर इस विचारका उदय होवे ही कहाँसे—" मैं जमके दांतोंकी बीचमें बैठा हूँ, पीसानेकी तय्यारीमें हूं " ?। धनके लोभमें अंधा बना हुआ आदमी, भीतर ही लेश्यासे कृष्ण (काला) बनता है, इतना ही क्यों ?, बल्कि उसका मुँह और हाथ भी धनके जाने आनेसे काले हो जाते हैं। धनकी आशा, उच्छृंखल-संकलसे न जकडाई हुई, इस कदर विडम्बनाएँ बरसाती है कि पिशाचनी क्या बरसायगी। मनुष्योंके आत्मजीवनका भक्षण करनेवाली, मनुष्योंकी चेतनाको फिरानेवाली चीज आशाको छोड दूसरी कौन होगी ?। तात्त्विक विद्यासे आशा ही समस्त दोषोंकी माँ है,। धिक्कार है आशाकी दुष्टताको, और उससे जकडाए हुएको। धन्य है उन लोगोंको, जिनने आशाकी नाक काट डाली, यही काम करनेवाले, पुण्यशाली सच्चे ऋषि-महात्मा हैं, और इन्हीं ने संसार समुद्र तैर लिया समझिये!। पापकी वेल, दुःखकी खान, सुखके जलानेकी आग, और भवरूपी पेडका अव्वल बीज भूत आशा, जिसने परास्त करडाली, वह महात्मा, परमात्मा के ओहदेसे कोई दूर नहीं है। आशा दावानलकी ज्वालाका भय, कहाँतक बतावें—**धर्ममेघ** समाधि कोभी वह ज्वाला उसीदम शान्त कर डालती है। आशा भूतनी के आवेशमें आके आदमी, क्या क्या नहीं करता, दीन दयाजनक विलाप करने लगजाता है, गानेको बैठ जाता है, नाचनेमें मच जाता है, और विविध अभिनय करनेमें बावला बन जाता है। क्या बतावें, आशाकी गहन गति ? जहाँपर वायु नहीं फूंकता, जहाँ सूर्य के किरणोंका प्रताप नहीं दमकता, और जहाँ चन्द्रकी सुधाका बरसना नहीं होता, वहांभी आशाकी लहरिएँ अस्खलित बह जाती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं

कि जिन्होंने आशाको अपनी महारानी–मालिकनी बनायी, उनने त्रिलोकी के लोगोंकी गुलामी करना मजूर किया, और जिनने आशाको अपनी दासी बना ली, फिर उन महात्माओंके लिये कहना ही क्या, सभी लोग, उनके दास हो गये, तीनों जगत्का साम्राज्य, उनके करयुगलमें आ ही बैठा। यह पक्की बात है कि जो अर्थ, आशासे नहीं जकडाये गये, वे अर्थ, पाई वस्तुओंसे भी अधिक दर्ज्जेवाले है, और जिन अर्थोंको आशाने अपनी गोदमें बैठालिया, वे स्वप्नमेंभी दर्शन नहीं देते। मनुष्य, जिन अर्थोंको बहुत प्रयत्नसे साधना चाहता है, वे ही अर्थ, आशाका देशनिकाल करने पर, अनायास सिद्ध हो जाते है।

अगर पुण्यकी रोशनी, तकदीरका सितारा चमकता होगा, तो आशासे खून गरम किये बिना भी, मन कामना पूरी होनेमें सदेह ही नहीं है। अगरचे दुर्भाग्यका बादल आदमीके सिरपर घूम रहा होगा, तो मजाल है कि सैंकडो दफे आशा नदीमें डुबकी मारने पर भी मनोरथ पूरा होवे?।

दरअस्लमें वही पण्डित है, वही प्राज्ञ है, वही तपस्वी महात्मा है, जिसने आशाका पल्ला छोडकर सतोषवृत्ति धारण कर ली। सतोष रूपी अमृतसे सतृप्त बने सज्जनोंको, वे, भले दरिद्र ही क्यों न हों?, जो सुख है, वह, इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र चक्रवर्त्ती, कोई भी सम्राट् क्यों न हो?, मगर उन असतोषिओंको नहीं है। सतोष रूपी बख्तर जिनने पहिन लिया, उनपर, आशा बाणोंकी धारा नहीं पड सकती। ससारमें हजारों उपदेशक महाशय है, और लाखों क्या?, करोडों पुस्तकें पडी है, उनसे अल्प मतियोंको यदि धर्मका साराश, अथवा मुक्ति पदके साधने

की रीति मालूम न पड सकती हो, तो कुल पुस्तकोंका सार, सब धर्मशास्त्रोंका परमरहस्य यही अपनी आत्मामें जचा देना चाहिये कि आशा दावानल, शान्त हुआकि मुक्ति पद मिल गया। बस! आशा ही संसार रूपी वृक्षका प्रधान बीज है, और आशा ही मोक्ष पदके पानेमें बडा विघ्न है। आत्माके उपर प्रतिप्रदेश जितनी कर्मवर्गणाएँ लग रही हैं, उन सबका प्रेरक-प्रयोजक, स्वतन्त्र कर्त्ता, आशाको छोड, और कोई नहीं है। संसाररूपी अजायब ढंगका रथ, एक ही आशारूपी पहियेसे चलता है। आशाको जिनने मार डाला, उनने मोह राजाको मार ही डाला। आशा ही मोह राजाका सर्वस्व परिग्रह है, उसे हटानेसे मोह राजाका जोर कुछ नहीं रहता। क्रोध, लोभ, काम, मद, मान, ईर्ष्या, वगैरह सभी सुभट आशा देवीके पीछे हैं, आशासे जन्म पानेवाले हैं। आशाहीका पेट यदि फोड दिया जाय, तो फिर क्रोध काम वगैरहका जन्म होना नहीं बनेगा। राग, द्वेष, ये दो पहिये, यद्यपि संसार रथके चलानेवाले कहे जाते हैं, मगर तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर ये कोई स्वतन्त्र नहीं हैं, अर्थात ये, आशा भूतनी ही के रूप हैं। इन दो रूपोंमें अपनी आत्माको पलटती हुई, अथवा यों कहिए! ये दो मुख बनाकर द्विमुखी बनती हुई आशा जगत्का-सारे संसारका ग्रास करती है, कुल जीवोंको लुकमे बनाती रहती है।

हजारों मिथ्यात्वियोंमें एक सम्यग् दृष्टि, अधिक पुण्यशाली है। और सम्यग्दर्शनियोंमें भी परिमित आरम्भ परिग्रहवाले-देशविरति श्रावक ज्यादह विशेष हैं। तीव्र तपस्या करते हुए भी अन्य तीर्थिक मिथ्या दृष्टि लोग, जिस गतिको नहीं

पा सकते, वह गति, विराधकभाव वाले भी गृहस्थ–श्रावकको, सोमिलकी तरह कोई दुर्लभ नहीं होती। मास मासतक निरन्तर उग्रतप करनेवाले, और पारणेमें, अगुलीपर रहे, उतनाही खानेवाले भी मिथ्यात्वि तपस्वि लोग, सतुष्ट श्रावकों की सोलहवीं कलातक भी नहीं पहुँच सकते। हजारों वर्षतक अद्भुत–गहन तपस्या करनेपर भी तामलीतापस, सुश्रावकके पाने योग्य गतिसे भी हीन गतिमें चला गया, इसलिये श्रावक धर्मकी भी बलिहारी है। संतोषी श्रावक, आधा साधु ही है। साधुपन न बन आवे, तो नहीं सही, पर श्रावक धर्मपर तो जरूर आरूढ होना चाहिये। श्रावक धर्म इस कदर पालना चाहिये, कि आशा भुजगीका पोषण न होने पावे। आशा भुजगी यदि कोपाविष्ट हो गई, तो फिर देख लो! कैसा उसका फूत्कार छुटेगा, और अपनी आत्मवृत्तिपर उसकी विषाग्निज्वालाका असर कितना पडेगा। संतोष रूपी नागदमनी औषधी अगर पास रखोगे!, तो मजाल नहीं है कि आशा–सापनी, तुम्हारे पास फटकने लगे। इसलिये आशा पिशाचनीके पराधीन नहीं, बनना चाहिये, और परिग्रहका निग्रह कर सतोष धरना चाहिये; इस प्रकार सतोषवृत्ति रखनेके साथ मुनिधर्मके ऊपर अनुराग रक्खा जाय, तो फिर कहना ही क्या? श्रावक–गृहस्थ भी, आठ भवोंकी भीतर बराबर मोक्ष पा सकता है। जिन श्रावकोंको, साधु होने पर प्रीति नहीं–साधु धर्म ग्रहण करनेकी अभिलाषा नहीं, उनको, समझो कि श्रावक पन ही बराबर नहीं फरसा। बेशक! अतरायके जोरसे साधुपन लेना नहीं बन सके, मगर उसपर प्रीति तो रखनी चाहिये–उसपर खयाल तो रहना चाहिये। दीक्षा लेना, नहीं लेना दूसरी बात है, मगर साधु धर्म पानेकी प्यास–उत्कंठा तो जरूर रखनी चाहिये कि–" मैं कब अणगार साधु श्रमण निर्ग्रन्थ हो जाऊँ ? "। जहाँतक

ऐसी भावना जिसमें न जागी, वहांतक मानव पक्षी भी आकाशमें उड रहा समझिये !। जैसे कैदमें पड़ा हुआ आदमी चाहता र-हता है कि कब मैं छूटूंगा ?", इसी प्रकार धर्मात्मा भी यही फ़िक्र है—"कब मैं संसारके फंदेसे छूट जाऊं ?" ऐसी प्रबल भावना, अपनी धर्मभूमिपर आन्दोलन करे। जिनको, दिनरात संसारके फंदेमें परिश्रम मालूम न हुआ, संसारकी अ-स्थिर स्थितियों पर नाराजी न जागी, वे धर्मकी सच्ची सड़क पर नहीं आये, समझिये !। सच्चे धर्मात्मा पुरुषोंको तो संसारकी गरम गरम आग नहीं सहन हो सकती, मगर क्या करें नहीं चाह-ते दुःखसे उन्हें संसारमें रहना पड़ता है। कितने भी मोतीके खूबसूरत पिंजरेमें तोतेको रक्खो, मगर वह हर्गिज खुश नहीं मा-नेगा, इसी तरह धर्मात्मा गृहस्थ भी, कितनी ही बड़ी भारी दौ-लतसे लदा हुआ क्यों न हो ?, मगर हर्गिज संसारमें खुश नहीं मान सकता। धर्मात्मा गृहस्थके हृदयमें हमेशा संसारकी दुर्गुणतापर, संताप छूटता रहता है कि—

१

"संसारमें सब लोग स्वार्थी, कौन किसका हो सका ?
सम्बन्ध मतलब, प्रेम मतलब, मतलब ही वह दिग्वका।
सम्बन्ध तबतक चमकता, जब स्वार्थ पूरा नहि भया
सम्बन्ध पूरा हो गया, जब स्वार्थ पूरा हो गया" ॥

२

"प्रेमी जिसे हम मान बैठे, जिस बिना दुःखी रहे
उस शख्सका तो भटकता जी दूसरे ही में रमे।
हा ! हा ! हमारा कौन ?, हम भी हो सके किसके कहां
यों ही सदा मोही बने रहते हमें क्या सुख यहां ॥

२

यों ही हमारा जन्म यह यदि खतम ही हो जायगा,
तो क्या कभी आशा बने, जो सुख जगह को पायगा ?।
क्या धर्म से सुख, पाप से दुख शास्त्रमें न सुना गया,
* तो दुःखकारण पाप करना, उचित क्यों समझा गया ?।।

अपार पुण्यकी राशिका उदय हो, तो साधु होने की भावना बनी रहती है। साधु होना, लडकोंका खेल नहीं है, सारे संसारके जबरदस्त किल्ले को तोड देना है। साधु होने की उत्कट भावना रखते हुए ही क्यों?, साधु धर्मके पानेकी तय्यारीपर आये हुए भी कितने ही महाशय, बजरिये अन्तरायके ऐसे पीछे हट गये, कि फिर उन्हें दीक्षा लेनेका नाम ही नहीं रहा। कितने ही तो, साधु हो के भी दुर्भाग्यके जिरसे ऐसे भ्रष्ट बन गये कि पगडी पहिनके गृहस्थ बन गये। कई तो कपटी-प्रपंची, ढोंगी-वृत्ति बनके झूठा-साधुपनका दावा करते हुए अपने पेट भरने लगे। इसी लीये कहा गया है कि साधुधर्म क्या है, मानो! सिंहनीका दूध है, बडे सत्त्वशाली ही लोग उसे पी सकते है, कमजोरोंको वह नहीं पच सकता, उल्टी आत्मजीवनकी खराबी हो जाती है। साधुपन लेना तो उतना कठिन नहीं, मगर लेके निबाहना बडा कठिन है। दीक्षा लेनेवाले लोग लेतो लेते है, मगर पीछेसे इस कदर हीजडे बन जाते हैं, कि चारित्रधर्मको मट्टीमें मिला देते हैं; इतनेमे भी शांत न होके झूठे घमड-झूठी चतुराई से अपने चौपट किये चारित्रकी भी टांग ऊँची रखकर पापको इस कदर रगडते हैं, कि फिर चारित्रधर्म मिले या नहीं मिले, इस का बडा सदेह रह जाता है। अतएव अपनी आत्माकी शक्तिका इम्तिहान करके साधु बनना चाहिये, साधु बनके अच्छी तरह

---

* ये श्लोक स्व रचित "सूक्ति-सुधा" मेंसे उद्धृत किये गये है।

चारित्र धर्मका पालन करना चाहिये। आवरण वशसे अगर दुर्निवार-शिथिलताका आक्रमण हो जाय, तो लोगोंके सामने साफ व्यवहार रखना चाहिये कि "मैं शिथिल हूँ, मन्द क्रिया करता हूँ, मेरेसे, जैसा चाहिये, वैसा चारित्रधर्म, नहीं बन आता, इसीसे पूर्ण वन्दना करानेको योग्य नहीं हूं" मगर माया-मृषावाद कभी नहीं सेवना। प्राण क्यों न चले जायँ, मगर अपनी आत्मामें असत् (अविद्यमान) चारित्रधर्मको सत् (विद्यमान) रूपसे कभी प्रकाश नहीं करना चाहिये। शरम आती हो, तो अच्छा चारित्र पालके साधुपनकी सच्ची ख्याति पा लो!, मगर आचारोंसे भ्रष्ट हो के भी झूठा-साधुपनका दावा करना, किसी हालतमें अच्छा नहीं। लोकमें शरम आती है, इस लिये साधु धर्मका, ऊपरका सूखा बनावट ढोंग रखना अच्छा समझा जाता है, तो भला! भीतर-आत्माकी शरम नहीं आती, तीर्थंकर परमात्माकी भी शरम नहीं आती?, इनकी शरम तो पहिले रखनी चाहिये। लोग तो हजारों मुखवाले हैं, उनका क्या ठिकाना है? वे तो सदाही खुले मुंहसे ज्यों आवे, त्यों ही भसड देते हैं, साधु आदमीको भी, कहनेवाले लोग दुरात्मा कह डालते हैं, और दुर्जन-वदमाशको भी सत्पुरुष समझ लेते हैं, कहिये! अब लोककी मर्यादा कहाँ रही?, इसलिये वास्तवमें अपनी आत्माकी शरम रखनी चाहिये, और भयङ्कर कर्मोंसे डर कर यथाशक्ति-मुताबिक-जमाने चारित्र धर्म पालना चाहिये। किसी पेडमें हजारों शाखाएँ होती हैं, जब दूसरे वृक्षोंमें उनसे कम होती हैं, मगर खयाल रहे, पचास पचीस भी शाखाएँ रहेंगी, तब भी वृक्ष बराबर कहा जायगा, वैसे ही, कोई साधु, बडा तपस्वी हो, कोई उत्कृष्ट क्रियापात्र हो, जब कोई, मौनी, योगी, ध्यानी, ज्ञानी हो, कोई ज्यादह क्रिया-तपस्या करनेवाला हो, कोई कम क्रिया तप-

स्या करता हो, इस प्रकार भले ही क्रिया वगैरहमें तरतमता रहो, तो भी साधुपन बराबर कायम रहता है। हकीकतमें मूल बातें नष्ट न होनी चाहियें, यथोचित क्रियामें प्रवृत्त, और कंचन-कामिनीके सगसे दूर हटा हुआ शुद्ध उपदेशक साधु, बराबर साधु है, मगर कंचन कामिनीमें फसा हुआ, उत्कृष्ट तपस्वी, प्रबल क्रिया कांडी ही क्यों न हो ?, साधु नहीं है।

इस जमानेमें जैन मुनियोंकी सख्या बहुत थोडी है। दूसरे साधुओंके आगे हमारे जैन साधु वर्ग, आटेमें निमककी बराबर मालूम पडते हैं। यह पक्का समझें कि साधुओंके विना शासनका उदय, हर्गिज न होगा। अव्वल तो गृहस्थोंमें, इग्लीशमें बडे बडे प्रोफेसर बने हुए भी लोग, धर्मकी तालीमसे बहुत कुछ बाहर हैं, भाषाज्ञान मात्रसे विद्याका परिपाक हुआ नहीं कहाता, विद्याका परिपाक दूसरी चीज है। जहा दिनरात ससारके फदेमें, अथवा रूपचदजीकी गुलामी करनेमें चित्तका दाह होता हो, वहाँ विद्याका परिपाक होनेकी क्या बात। जैन शास्त्र जैसे गहन शास्त्र, ससारमें कोई नहीं, उनका निष्कलक रहस्य प्राप्त करना, निश्चिन्त बुद्धिमानोंके सिवाय, औरोंसे नहीं हो सकता। और निश्चिन्तपन, प्रायः साधुपन विना नहीं मिल सकता। परमपुरुषार्थ फैलानेका मैदान साधुवृत्ति ही है। साधुवृत्तिमें आया हुआ पुरुष ही, बेधडक जैन धर्मकी पताका फरका सकता है। साधु लोग, राजाके राजे महाराजा हैं, उन्हें किसीकी कुछ पर्वाह नहीं रहती, और इसीसे नीडर दिलसे सबकी सामने सब प्रकारका उचित व्यवहार साधुओंसे हो सकता है, और तबही जैन शासनकी रोशनी, प्रसरनेके हदपर आसकती है। जैन शासनके खास प्रभावक, जैनशासनको सिंगार देनेवाले महात्मा मुनिजन ही हैं, इसमें कौन क्या कहेगा ?। इसी लिये इ-

मारा यह वक्तव्य है कि जैन जातिमें, साधुओंको बढानेकी परम आवश्यकता है। जैन जातिमें साधुलोग बहुत थोडे हैं, इस लिये जैन साधु जातिकी बढती करनेके लिये साधुओंकी तर्फसे अगर प्रयत्न होवे, तो उसमें गृहस्थोंका फर्ज है, कि सहारा देते रहें। साधुओंके पकनेका कोई पेड नहीं है कि जल्द जल्द साधु बढते जायँ। साधुकी वृद्धि पहले जमानेमें किस तरीकेसे होती थी? इस तरफ खयाल करनेपर, किसी सज्जनको, खेद हुए सिवाय नहीं रहता कि वर्त्तमानमें, साधुओंका कितना भयंकर दुर्भिक्ष हैं? जैन मुनिजनोंका कैसा भयानक दुष्काल है?। इस दुष्कालको शांत करनेके लिये प्रयत्न करते हुए मुनिवरोंको, गृहस्थ लोग सहायता दें, कोई विरुद्धपक्षी न होवे।

जडमें कालुष्यको पैदा करता, धर्मरूपी पेडका उन्मूलन करता, नीति, क्षमा, दया, विवेकरूपी कर्मलिनियोंको बिगाडता, लोभ सागरको बढाता, मर्यादा रूपी तटको तोडता, और शुभ भावनारूपी हंसको प्रवास देता हुआ—परिग्रहरूपी नदीके पूरका जोर, कितना क्लेशदायक है, यह खयालमें रहे। अत्यंत धनकी लोलुपता, सचमुच कलहरूपी हाथीके लिये विन्ध्याचल है। कोप-रूपी गृध्र (गिद्ध) के लिये स्मशान (मरघट) है। व्यसनरूपी सांपके लिये रन्ध्र (बिल) है। द्वेषरूपी चोरके लिये रातका प्रारम्भ समय है। पुण्यवनके लिये दावानल है। मृदुतारूपी मेहके लिये प्रचंड पवन है। और नय (नीति) रूपी कमलके लिये हिम है। प्रशमका दुश्मन, अधैर्यका मित्र, मोहकी विश्रामभूमी, पापों की खान, आपदाओंका स्थान, दुर्ध्यानका लीला वन, व्याक्षेप-का खजाना, मदका मंत्री, शोकका जनक और कलहका क्रीडाघर कौन है?, परिग्रह है, इसलिये विवेकी महानुभावोंको परिग्रहके मदमें उन्मत्त नहीं होना चाहिए। जैसे आग, इन्धनोंसे तृप्त नहीं

होती, समुद्र नदीके जलोंसे तृप्त नहीं होता, वैसे प्राणी धनके ढेरसे भी तृप्त नहीं होता; परंतु यह नहीं समझता कि "यह सब धन दौलत माल छोडकर परलोकमें मैं अकेला जाऊँगा, फिर किस लिये फिजूल पाप करके पापी बनूँ"।

संसारमें लोग भयकर अटवी (जंगल) में भ्रमण करते है, विकट देशान्तरोंमें पर्यटन करते हैं, गहन समुद्रकी मुसाफिरी करते है, कृषिकर्मका बेहद कष्ट उठाते है, कजूस-मक्खीचूसकी गुलामी करते है, और लडाईमें शामिल होते है, ये सब किसके प्रभाव है?, लोभ राक्षसके। लोभ ही परिग्रह परिमाणव्रतका कट्टा दुश्मन है, लोभ ही मुक्ति नगरीके पथ (मार्ग) के मुसाफिर हुए लोगोंको उपद्रव करनेवाला चोर है, लोभ, मोहरूपी जहरपेडका मूल है, लोभ, सुकृत सागरको पीनेवाला अगस्त्य है, लोभ, क्रोधाग्निका अरणी (काष्ठ विशेष) है, लोभ, प्रताप रूपी सूर्यको ढाकनेवाला मेह है, लोभ, कलहका क्रीडा घर है, लोभ विवेक चन्द्रके लिये राहु है, लोभ, विपदा रूपी नदीका समुद्र है, और लोभ, कीर्तिरूपी लता सततिका उच्छेदन करनेवाला हाथी है। धर्मवनके दाहसे विशेष प्रज्वलित हुए, दुःख रूपी भस्मका जन्म देनेवाले, अकीर्ति—बदनामी रूपी धूमको फैलानेवाले, और धन रूपी इन्धनोंसे उत्तेजित बने हुए—लोभ रूपी अनल (आग) में, गुणोंका समूह, सचमुच शलभ (टिड्डी) का आचरण करते हैं। महर्षियोंका यह उपदेश है—उनके घरमें कामधेनुका प्रवेश हुआ। उनके सामने कल्पवृक्षका जन्म हुआ। उनके करतलमें चिन्तामणी उपस्थित हुई। उनके समीपमें निधि प्राप्त हुआ। जगत्, उनके वशमें हुआ। और स्वर्ग—मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति, उनके लिये निःसदिग्ध हुई, जिन्होंने, सकल दोषानलको शान्त करनेमें मेह समान—सतोषका पल्ला पकडा।

जिस लक्ष्मीके लोभमें अंधे वने हुए लोग, धर्मका तिरस्कार करते हैं, वह लक्ष्मी, नदीकी तरह नीच गामिनी है, निद्राकी तरह चैतन्यको शिथिल करनेवाली है, शरावकी तरह मदका पोषण करनेवाली है, धुवांकी तरह अन्धा वनानेवाली है, विजलीकी तरह चपलता स्वभावको लिये वैठी है, दावानलकी ज्वालाकी तरह तृष्णाको उल्लसित करनेवाली है, और कुलटा—व्यभिचारिणीकी तरह स्वतन्त्र मतिसे—स्वच्छन्द रीतिसे जहां तहां नया नया चूल्हा वनानेवाली है, इधर उधर भागा भाग करनेवाली है। धिक्कार है वहुतोंके आधीन धनको, जिसको, दायाद लोग (भाग लेनेवाले) चाहते हैं, चोर लोग चोरी कर ले जाते हैं, राजा लोक खींच लेते हैं, आग, छल पाके भस्मसात् वना देती है, पानीका जोर स्वाहा कर देता है, दुर्विनीत कुपुत्र, फिजूल उडा देते हैं, और जमीनमें गाड दिये हुए धनको, यक्ष वगैरह हरण करलेते हैं। अक्लमंद—वडे मनवाले भी लोग, धनकी इच्छासे विव्हल वने हुए क्या क्या नहीं करते ?,—नीच आदमीके आगे भी मीठे मीठे वचन वोलते हैं, सिर झुकाते हैं, दुर्गुणीको भी, शत्रुको भी, उंचे उंचे गुणोंके कीर्तनसे रंजन करते हैं, और कृतघ्न—वेअक्लकी सेवा करनेमें कुछ भी नही हिचकते।

यह जो लक्ष्मी, नीचकी तर्फ दौडी जाती है, तो क्या समुद्रके पानीके संगसे ?; और कमलिनी के संगसे लक्ष्मीके पाँवमें क्या कंटक लगा है, कि जिससे वह कहीं पांव नहीं ठहराती। लक्ष्मीके उन्मादसे लोगोंकी चैतन्यशक्ति जो छिप जाती है, इसका कारण शायद लक्ष्मीको विषका संसर्ग ही हो तो ना नहीं, जो कुछ हो, तत्त्वज्ञान यही कहता है कि—लक्ष्मीपर तृष्णाको स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिए, और द्रव्यका परिमाण कर धर्मस्थानपर लक्ष्मीका सदुपयोग करना चाहिए, लक्ष्मीका सदुपयोग सात जगह

पर करना शास्त्रकार भगवान् फरमाते हैं-जिन बिम्ब १, जैन मंदिर २, जैन आगम ३, साधु ४, साध्वी ५, श्रावक ६, और श्राविका ७। इन सात क्षेत्रोंमें द्रव्यको सफल करता हुआ व्रतधारी दयालु गृहस्थ, **महाश्रावक** कहाता है। सम्प्रति राजा, सवा लाख मंदिरों, व सवा करोड जिन बिम्बों को प्रतिष्ठित कर बेहद पुण्य लक्ष्मीकी गठडी उठा ले गया। कुमारपालराजा, १४४४ जिनालय, बंधवाकर इस कदर कर्मोंको ढीला कर गया, कि आगामी चौवीसीमें प्रथम तीर्थंकर पद्मनाभका गणधर होगा। एव और भी वस्तुपाल तेजपाल, विमलशाह वगैरह महानुभावोंने चंचल लक्ष्मीसे अचल सुख पानेकी सडक हासिल की।

साधुजनोंकी निष्कारण भक्ति करनेमें द्रव्य खर्चना, श्रावकोंका अव्वल धर्म है। मान लिया कि निर्ग्रन्थ मुनिजनोंको फूटी पाईकी भी जरूरत नहीं होती, मगर यह बात क्यों भूलनी चाहिए कि मुनि वर्ग, परमात्मा-धर्म सार्वभौमके चपरासी हैं, इसलिये उन्हें, शासनकी रक्षाके लिये-शासनको उदयकी राहपर सचरानेके लिये श्रावकोंसे द्रव्य खर्चानेकी अति आवश्यकता है। शासनकी रक्षाका-शासनके अभ्युदयका काम अव्वल मुनिजनोंके सिर पर जब है, तो फिर इस काममें वे लोग प्रमाद नहीं कर सकते। दयालु-धर्मात्मा गृहस्थ वर्ग, फिर भी ससारी हैं, इसलिये शासनकी उन्नतिकी ओर उनकी नजर जितनी जाती होगी, उतनी ही जायगी, साधुवर्गकी तरह वे, धर्मध्वज, कैसे उठा सकते हैं?, इसलिये साधुओंको, शासनकी अभ्युन्नतिके लिये जितनी सहायता-जितनी मदद चाहिए, उतनी, श्रावकोंका फर्ज है कि

जरूर देते रहें, कृपणता न करें। कुलटा लक्ष्मी, साथ नहीं आयगी। धनसे जो कुछ मतलब, धर्मका, या भोगका निकाला, वही निकल गया समझो ? बाकी मरने बाद क्या साथ आयगा ?, समझो! ध्यान दो! मोहमें बावले मत बनो! किसके लिये–किस वास्ते इतना सिर पटकना ? कपाल फोडना ? । लोहीका पानी कर जो धन इकट्ठा करते हो ! वह धन तुम्हारा नहीं, उसके मालिक तुम नहीं, तुम्हारे लिये तो सिर्फ सेरभर आटेकी रोटी ही काफी है, बाकीका माल, तुम्हारे पापसे पैदा हुआ भी तुम्हारे भोगमें नहीं आवेगा, आवेगा, गुलामोंके भोगमें, आवेगा तुम्हारे दुश्मनोंके भोगमें, आवेगा, जल आग वा राजेके भोगमें, आवेगा तकदीर सीधी होगी तो तुम्हारे संतानोंके भोगमें, मगर तुम तो मूँछ मरोडो ही मत !, तुम तो खुद अपने पर पापका बोझ उठाकर–पहिलेसे नरकके नायकोंको वहां जानेका संदेशा दे कर कूट, कपट, छल, प्रपंच, दगाबाजीसे भोले लोगोंका सिर काटकर पैसा इकठा दूसरेके लिये करते हो, और पापका फल तुम अकेले ही भोगोंगे, पापसे पैदा हुए द्रव्यमेंसे भाग लेनेवाले सम्बन्धिवर्ग, कुछ भी पापका फल लेनेको नहीं आवेंगे। समझो !, धर्म करो !, धर्म धनका संचय करो ! ताकि मरने बाद भव भव सुख सम्पदा मिलें। जो कुछ दान दिया, वही पैदायश हुई समझो !, धर्मके कानूनोंको खयालमें लो !, धर्मकी सडकका भान करो ! धर्म पर प्रेम करो !, धर्मको हृदयका गहना–हार समझो !, दुःखी अवस्थामें धर्मको मत भूलो!। संसार सागरमेंसे बाहर निकालनेवाले

धर्मको प्रतिक्षण सम्हालो !, घरकी स्त्रीको सम्हालते हों, बच्चोंके गाल पर चुम्बन करते हों, स्वजन वर्गकी खबर लिया करते हों!, दिन रात रूपचंदजीकी फिक्रमें मरते हों, तो इस सब वैभवके जन्म देनेवाले-धर्मको भूल जाओगे क्या ? छी ! छी ! छी !, कितनी कृतघ्नता ?, नहीं चाहिए कि धर्मसे निश्चित सुख भोगबे हुएको धर्मकी ओर न निहालना ।

धर्मसे धनवान् बने हो, तो फिर धर्म करो ! कि ज्यादह वैभव प्राप्त होवे, लक्ष्मीपर लोभ समुद्रका बढाव अगर न रोकोगे, तो समझ लो ! कि मूलसे तुम्हारी सत्ता उखड जायगी, इस लिये परिग्रहका परिमाण करो ! लाख, दोलाख, दस लाख, पचास लाख, करोडका भी परिमाण-नियम करो । धर्म, आत्माकी शुद्ध परिणति पर है, धर्ममें कपट नहीं चलता, कोई दरिद्र-कगाल, मोह तृष्णाकी प्रबल प्रेरणासे करोड रूपयोंका नियम रखले, और धर्मकी तर्फ हाथ पसारे, धर्मकी टाग ऊँची रक्खे, तो ऐसी अशुद्ध परिणतिसे धर्मको फोसलाना नहीं होसकता, कपट करके धर्मका वशीकरण कभी न हुआ, न होगा, शुद्ध आत्म परिणतिही जब धर्मका मूल बीज है, तो वहा वणिक् विद्याका बल कुछ भी नहीं चलता ।

जितना परिमाण, द्रव्यका किया है, उससे ज्यादह द्रव्य बढ जाय, तो पूर्वोक्त सात क्षेत्रोंमें खर्च दो, सुपात्र दानमें दे दो !, अभयदानमें दे दो !, अनुकम्पा दानमें दे दो !, मतलब कि अपने सासारिक मतलबमें मत रक्खो। परिमाणसे अधिक द्रव्य बढा, तो फिर उसे धर्मकी राहपर खर्चनेकी देर नहीं लगानी चाहिए,

छठवां दिग्विरति-गुणव्रत.

पांच अणुव्रत बता दिये, अब इनके गुण-यानी उपकार करनेवाले तीन **गुणव्रतों** के प्रकाश करनेका अवसर है —

दिग्विरति, भोगोपभोग परिमाण, और अनर्थदण्ड, ये, गुणव्रतके तीन भेद हैं। इनमें पहिला **दिग्विरति** व्रत, दिशाओंकी मर्यादा बांधनेका नाम है। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत और वायव्य, इन दश दिशाओं, अथवा एक, दो, तीन दिशाओंमें गमन करनेकी मर्यादा करनी चाहिये। यह व्रत, पूर्वोक्त पांचों अणुव्रतोंका अच्छा उपकार करता है, जैसे कि दिशाओंमें अमुक हद्द तक जानेकी प्रतिज्ञा कर ली, तो हद्दसे बाहर, गमनागमनके अभाव हो जानेसे अपनी तर्फसे वहां के जीवोंकी हिंसा होनी बंद हो गई, यही **प्राणातिपात विरमण** व्रतकी पुष्टि हुई। तथा नियमित क्षेत्रके बाहरके मनुष्योंके साथ मृषा भाषण करना मिट गया, यह **मृषावाद विरमण** व्रतको दृढता मिली। और प्रतिज्ञात हदके बाहरकी चीजकी चोरी करना भी रुक गया, यह **अदत्तादान विरमण** व्रतको उत्तेजन मिला। तथा सौगन्दसे बाहरकी भूमीकी औरतोंके साथ विषय भोगका भी लोप हो गया, इससे **मैथुन विरमण** व्रतका उपकार हुआ। एवं नियमसे बाहर देशमें क्रय-विक्रय (खरीदना व बेचना) भी शान्त हो गया, इससे **परिग्रह परिमाण** व्रतका भी उत्कर्ष हुआ, इस प्रकार, दिग्विरति व्रत, बडा उपकारी होनेसे श्रावकोंको खास आदरणीय है।

शास्त्रोंमें गृहस्थ लोग गरम लोहेके गोले समान कहे हैं, इसीसे तो जहां तहां उनके सिर पर आरम्भ का ढेर लदा ही रहता है, इस लिये गृहस्थोंको धर्मके मार्गमें पहुंचानेके लिये यह व्रत क्या अच्छा बताया कि जिससे सब क्षेत्रोंके आरम्भ रुक जायें। प्रतिज्ञात क्षेत्रमें यद्यपि निरंतर आरम्भ होते ही रहेंगे, तौभी प्रतिज्ञाके बाहरके जीवोंको तो अभयदान मिल गया, नहीं तो सर्वत्र आरम्भ-हिंसाका प्रसरता पूर कितना बढ जाता। खयाल करना चाहिये कि सामान्य तौरसे यह कहनेपर कि "अमुक देशको लूट लेंगे-चौपट कर डालेंगे," उस देशके लोगोंको कितनी बडी भारी फिक्र जाग उठेगी? भले ही पीछे सारे देशको न लूटे, किन्तु अमुक ही शहरोंको चौपट कर डालें। उसी तरह नियम रहित आदमी की तर्फसे सब क्षेत्रोंमें आरम्भादि पापस्थानकोंके दरवाजे खुले रहनेसे, (भले ही पीछे सब देशोंमें जाना न बन आवे, और हिंसा वगैरह न हों) उसके शिरपर पापस्थानक आ ही चुके। नियमकरनेसे तो नियमके बाहर वालोंको क्लेश-कष्ट नहीं मिलनेसे बराबर धर्मकी पुष्टि होती है, इसमें किसीका कुछ कहना नहीं हो सकता।

जगत्को आक्रमण करता हुआ-लोभ रूपी समुद्रका वेग दिग्विरति वाले आदमी से ढीला पड जाता है-इसमें क्या सन्देह?।

दिशाका परिमाण दो प्रकारका होता है, जल मार्ग और स्थल मार्गका। जल मार्गका इस तरह-नाव स्टीमर वगैरह जल वाहन के जरिए इतने योजन अमुक दिशामें अमुक बंदर अमुक द्वीपतक चला जाऊँ। यदि पवनके उन्माद अथवा मेहके जोरसे उलटे चले हुए जल वाहनसे कहाका कहीं चला जाऊँ,

तो आगार है, अर्थात् व्रतका भङ्ग न होवे। एवं अनजानपन–भूल चूकसे किधरका कहीं चला जाऊँ, तौभी छुट्टी। उसी प्रकार स्थल मार्गका भी समझ लें। नियमसे बाहर देशकी चिट्ठी पत्री अखवार आवें, तो उन्हें पढनेकी छुट्टी रक्खें, और नियमसे बाहर देश वाले पर चिट्ठी पत्री लिखना, कारणसे स्वीकार रक्खें। जितना निवह सके उतना बोझ उठाना, मगर ज्यादह बोझ उठा कर नीचे पटकना–गिरा देना नहीं।

देव यात्रा गुरु यात्रा वगैरह धर्म क्रियाके लिये चारों दिशाएँ खुली रक्खी जायँ, तो कोई हर्ज नहीं। अव्वल तो सारो जिन्दगी तक यह व्रत पालना चाहिये, जिन्दगीभरके लिये अगर न वन आवे तो वर्षाऋतु–चतुर्मासमें तो जरूर यह व्रत धारण करना चाहिये। चतुर्मासमें पर्युषणा पर्व ऊपर हद वाहर प्रदेशमें, गुरु महाराजको वन्दना करने या कल्पसूत्र वगैरह सुननेको जाना हो तो वेशक! जावें, कोई हर्ज नहीं, इसीसे तो इस व्रतके लेनेके शुरूमें धर्म क्रियाके लिये छुट्टी रक्खी जाती है।

सदा सामायिक वाले जितेन्द्रिय मुनि महाराजोंके लिये तो यह व्रत है ही नहीं। उन्हें किसी दिशामें जाने का प्रतिवन्ध नहीं है, वजह इसकी यह है कि साधु लोग सर्वथा निर्ग्रन्थ–निष्परिग्रही और आरम्भोंसे मुक्त हैं, इस लिये उनका कहीं पर जाना पाप पोषक नहीं वजता। जैसे अमुक हदमें विहार करना है, उसी तरह सर्वत्र विहार करें तो कोई हर्ज नहीं है, उलटा साधुओंसें (जहाँ पधारेंगे, वहां) उपकार ही होगा, अतएव तो चारण मुनियोंका ऊर्ध्व गमन मेरु पर्वतके शिखरतक और तिर्यग्गमन रुचकशैल तक होता है। जो सज्जन सब दिशाओंमें जानेकी मर्या-

दा करता है, उस गृहस्थको भी स्वर्गमें निरवधि सम्पदाएँ मिलती हैं, इस लिये इधर उधर लोभान्ध बनकर भागाभाग नहीं करना अच्छा है। संतोष रक्खो ! जो तुम्हारी तकदीर का होगा, वह किसी हालतमें दूसरेके हाथ नहीं आ सकता। जो तुम्हारा है, वह तुम्हारा ही है, कभी न कभी तुम्हींको मिल जायगा, धीरज रक्खो ! चपलता मत करो ! स्थिरतासे सोचोगे तो नौ निधियाँ तुम्हारे पास ही है मगर चापलसे अंधे बने हुए वो नजरमें नहीं आतीं, इस लिये चपलता प्रकृतिको छोड, धर्मको हृदय कमलमें बैठाओ !, और स्थिर वृत्तिसे संतोष वृत्ति पूर्वक यथोचित व्यापार-धंधेका प्रबन्ध करो और इसीमे आनन्द पूर्वक जिन्दगीको इस कदर गुजारो कि परलोकमें भी निर्मल सम्पदाएँ मिलती रहें ॥
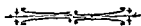
सातवाँ भोगोपभोग परिमाण गुणव्रत.

भोग व उपभोग वस्तुओंका परिमाण करना, उसे **भोगोपभोग परिमाण** व्रत कहते हैं। भोग, एक ही वार भोगने योग्य-अनाज ताम्बुल तेल अत्तर वगैरह चीजोंको कहते है। उपभोग, वार वार भोगने योग्य-वस्त्र गहने घर बाग औरत वगैरह चीजें हैं। इन दोनों का परिमाण करना यह सातवा गुणव्रत है। जो जो चीजें काबिल भोगने के है, उनका परिमाण करने और भोगने अयोग्य-अभक्ष्य चीजोंका परित्याग करने से इस व्रत का प्रतिपालन होता है। सचित्त वस्तुएँ यद्यपि अभक्ष्य जितनी अधम नहीं हैं. तो भी जीव संयुक्त होनेसे धर्मात्मा लोग उन्हें नहीं खाते। अगर सर्वथा सचित्तों का छोडना न बन सके तो सचित्त वस्तुओं का परिमाण करना चाहिए कि इतनी सचित्त

चीजें खाउँगा, ज्यादह नहीं। पंचमी अष्टमी एकादशी चतुर्दशी वगैरह तिथि दिनों पर सचित्त का बिल्कुल त्याग करना जरूरी है। महीने भरमें चार दिन दश दिन आखिरमें पांच दिन तक भी सचित्त का त्याग न हो, तो कितनी निर्बलता? खैर! मगर अभक्ष्य चीजें हर्गिज नहीं खानी चाहिएँ।

सुनिए! बाईस अभक्ष्योंके नाम—

१ वड के २ पीपल के ३ पिलखण के ४ कठंवर के ५ और गूलर के फल ये पांच प्रकारके फल अभक्ष्य हैं। इनमें बहुत सूक्ष्म कीडे—त्रसजीव भरे हुए रहते हैं, इसलिये इन्हें धर्मात्मा पुरुष नहीं खा सकते।

६ मदिरा ७ मांस ८ मधु ९ मक्खन। इन चार अभक्ष्योंमें तद्वर्ण असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं। ये चार महा विगय कहलाती हैं। इन महा विगयोंसे काम विकार को उत्तेजन मिलता है।

देखिए! शराब की दुर्दशा—

मदिरा के पीने मात्र से बुद्धि नष्ट हो जाती है, जैसे दुर्भागी पुरुषको सुन्दर औरत छोड दे। मदिरा पान के परतंत्र दिल वाले पापात्मा लोग, अपनी माता को औरत समझते हैं, और अपनी औरतको माता के समान जान लेते हैं। मद्य पीनेवाले मूढ पुरुष को स्व—परका भान नहीं रहता, यहां तक कि अपने को स्वामी समझ बैठता है, और स्वामी को किंकर समझ लेता है। शराबी आदमी, शराबके जरिये से इसकदर बेभान बन जाता है कि बाजार के बीचमें मुडदे की भांति लेट जाता है, और उसके मुँहमें कुत्ते आके मूत जाते हैं। मद्यका व्यसनी मनुष्य

चौतरे पर नंगा हो के सो जाता है, और अपना गूढ अभिप्राय भी फौरन प्रकाश कर देता है । शरावके पीनेसे कान्ति कीर्त्ति बुद्धि लक्ष्मी वगैरह नष्ट हो जाती हैं । मद्यका पान किया हुआ मनुष्य भूताविष्ट जन की तरह नाचने लग जाता है, और शोकार्त्त आदमी की तरह रटने लगता है, तथा दाहज्वरार्त्त पुरुष की भांति जमीनपर लोटने लग जाता है । शराब, शरीरकी नसों को ढीली कर देती है, और इन्द्रियोंमें ग्लानि पहुँचाती है, तथा मूर्च्छा को जन्म देती है, इसीलिये तो मदिरा को हालाहल (जहर) की उपमा देनेमें आई है । आग के कणसे घास के ढेर की तरह विवेक संयम ज्ञान सत्य शौच दया क्षमा वगैरह गुण शरावसे दग्ध हो जाते हैं । दोषोंका कारण और आपदाओंकी जन्मभूमी–मद्य, रोगातुरके लिये अपथ्य की तरह धर्मात्मा के लिये वर्जने योग्य है । अब—

मांस के दोष बताते हैं–

जो शख्स मांस खाना चाहता है, वह धर्म वृक्षके खास मूल –दयाके उखाड डालने को कमर कसता है, क्योंकि मांस चीज ही ऐसी है कि जीवोंके मारने विना पैदा नहीं होती, और जीवोंके मारनेसे हिंसा राक्षसीका पाव मजबूत होता है, तथा दया नष्ट होजाती है । दया नष्ट हुई तो धर्मका मूल रहा ही कहा ?, और धर्मका मूल नहीं रहनेसे धर्मकी सत्ता किस कदर रहेगी यह कहनेकी कोई जरूरत नहीं । मांस खाता हुआ जो मनुष्य दयाका पालन करना चाहता है, वह सचमुच जलती आगमें वेलको रोपना चाहता है । जो आदमी मांस भक्षण करनेवाला है, वह भी बराबर घातक ही है, इस विषयमें मनु को भी देख लीजिये ! राय–

" अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः" ॥१॥

अर्थ---सम्मति (अनुमोदन) देनेवाला, हन दिये प्राणीके अङ्गोंका विभाग करनेवाला, प्राणीको हनने वाला, मांसको खरीद करनेवाला, मांस वेचनेवाला, मांसको पकानेवाला, मांस परोसनेवाला, और मांसको खानेवाला, ये सब घातकके शुमारमें हैं।

मांस निषेधक और भी श्लोक **मनु**का देख लीजिए !---

"नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान् मांसं विवर्जयेत् ॥१॥

प्राणिओं की हिंसा किये विदुन किसी हालतमें मांस पैदा नहीं हो सकता, और प्राणी वध किसी सूरतसे स्वर्गजनक है ही नहीं, इस लिये सुख—दुःखके प्राप्ति—परिहारको चाहनेवाला सज्जन किसी वक्त मांसका आदर न करे, इतना ही क्यों ?, वल्कि दूसरे से मराते हुए प्राणिओंको वचावें ।

यद्यपि पूर्वोक्त **मनु** श्लोकसे आठ प्रकारके घातक वताये गये, मगर लंवी नजरसे खयाल करने पर मांस भक्षक ही अव्वल घातक मालूम पडता है, क्यों कि घातक (प्राणीको मारनेवाला) पुरुष, प्राणी गणको काहेको मारेगा, अगर मांसाशी न होंगे । मांस भक्षियोंके लिये तो प्राणी हत्या होती है; जव प्राणी हत्याके प्रधान निमित्त—असाधारण कारण मांस भक्षी ही हैं, तो प्रधान घातक भी मांस भक्षी ही कहे जायँ तो क्या हर्ज है ? । जिसके अन्दर पडे हुए मिष्टान्न भी विष्टा रूप हो जाते हैं, और अमृत भी मूत्ररूप वन जाता है, उस पापी पेट के लिये—नालायक शरीर के लिये कौन अक्लमंद पापका आचरण करे ? । जिनके मुँहसे यह निकला कि "मांस भक्षणमें दोष नहीं है" । उनके शिक्षक—उपाध्याय, कठिन छातीवाले—कठोर हृदयवाले होने चाहिएँ । मांसभक्षी

दुर्मति आदमी की बुद्धि, शाकिनीकी भांति प्रति प्राणीको मारनेमें प्रवर्त्तती है। जो मूर्ख लोग, अच्छे अच्छे उमदे दिव्य भोज्य-खाद्य पदार्थ रहतेपर भी मास खानेमें प्रवर्त्तते हैं, वे सचमुच अमृत रसको छोड कर विष (जहर) खानेमें प्रवर्त्तते हैं। मांस भक्षणका क्या ज्यादह दोष बतावें? । मास भक्षक नराधम यह जान ही नहीं सकता कि "निर्दयको धर्म नहीं होता, और मास भक्षी दयालु नहीं होता"। अगर यह बात मासाशी जाने, तबभी दया धर्म का उपदेश नहीं कर सकता, क्योंकि मास भक्षक के हृदयमें प्रायः यही स्फुरायमान रहता है कि-"मेरे जैसे सब मास भक्षक, हो जायें"। इसीलिये कितनेही मासाशी उपदेशक पंडित लोग मास नहीं खानेका उपदेश नहीं देते, किंतु "स्वयं नष्टा दुरात्मानो नाशयन्ति परानपि" इस कहावतकी सडक पर चलते हैं।

कितने ही अज्ञानी लोग तो देव पितृ और अतिथि तकको भी मास देते हैं, इनमें उनका क्या दोष निकालें? किंतु उन भोले-लोगोंको ठगनेवाले विद्वान् ही गुनहगार हैं, देखिए! इस बात पर सम्मति देनेवाली **मनुस्मृति**—

"क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपहृतमेव वा
देवान् पितृश्चार्चयित्वा खादन् मांसं न दुष्यति"॥१॥

अर्थः—खरीद कर के अथवा खुद पैदा कर के चाहे दूसरे की तर्फ से उपहार में प्राप्त हुआ मास, देवताओं, वा पितृ लोगों को चढाकर खाता हुआ मनुष्य दोषी नहीं हो सकता।

मगर यह बात अज्ञानता से भरी है। खुद ही को प्राणि घात से पैदा होनेवाला मास खाना निन्दनीय कर्म है, तो देवता

पितृ लोगों को मांस चढाने की क्या बात करनी !। देवता लोगों के शरीर जब धातु रहित हैं, और वे कवल आहार नहीं करते तो फिर मांस नहीं खाने वाले उन्हें मांस कल्पन करना यह कितना मोह ?। पितृ लोग तो अपने पुण्यपापानुसार गति को प्राप्त किये हुए निज कर्मका फल भोगा करते हैं, और पुत्र के किये हुए पुण्य में से रत्ती भरभी फायदा जब नहीं उठा सकते तो फिर उन्हें मांस ढौकना यह कैसा पापकर्म ?। पक्की बात है कि पुत्रका किया पुण्य पिता के आगे उपस्थित नहीं हो सकता, कहां देखा—नींब वृक्ष पर किया हुआ सिंचन आंब पेडको फल पैदा करदे?। अच्छे सत्कार के लायक—अतिथिओंको नरक का हेतुभूत मांस परोसना यह कम शरमकी बात नहीं है। मन्त्र करके संस्कृत हुआ भी मांस नरकादि दुर्गतिका कारण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अगर मन्त्र के प्रभाव से मांसभक्षी मनुष्य मांस भक्षण के पापसे छुट जाता हो, तो फिर सब प्रकार के पाप कर्म करके पापी बने हुए—नरकगति के अतिथि बने हुए लोग, पापनाशक मन्त्र के स्मरण मात्र से पाप रहित—सुगति के लायक क्यों न हो जायँगे?। पापनाशक मन्त्रके स्मरण मात्रसे महा पापी आदमी, अगर कृतार्थ हो जाते हों, तो शास्त्रमें सब पापकर्मों का जो निषेध किया है, वह निरर्थक ठहरेगा, क्यों कि मन्त्रमात्रसे सभी पापों का नाश जब हो ही जायगा, तो फिर क्रूर कर्म करनेमें क्या हर्ज होगा, मगर यह सब प्रलाप है! मांसकी उत्पत्ति जब प्राणी वधके ताल्लुक है, तो हिंसामय मांस भक्षण, किसी हालतमें—किसी सूरतसे फायदामंद नहीं हो सकता, यह निःसन्दिग्ध बात है। कच्ची पक्की और पकाती हुइ मांस पेशियोंमें अनन्त निगोदजीवों का सतत उत्पात हुआ करता है, यह आगम सिद्ध बात विश्वास में ले के कभी मांस भक्षण तरफ निगाह नहीं

करना। इतना ही नहीं वल्कि मांसाशी लोगों को उपदेश दे के पवित्राहारी बनाना चाहिए।

हमारी समझमें अल्पज्ञ अमर्यादी कुशास्त्रकारोंने हठ कर के मांस भक्षणका उपदेश चला दिया है। उसके बराबर कौन निर्दय कहा जाय, जो नरककी अग्नि ज्वालाका इन्धनभूत-मांस-भक्षणसे अपना मांस पुष्ट करता है। सच पूछिए! तो मनुष्यों-की विष्ठा से अपने शरीरका पोषण करता हुआ शूकर अच्छा है, मगर प्राणिघात से पैदा होनेवाले मांसका सेवक पुरुष अच्छा नहीं। शुक्र (वीर्य) और शोणित (खून) से पैदा हुए-विष्ठाके रस से वर्धित हुए मांसको, आदमी हो कर-मनुष्य हो कर-के भी खाना यह बडी अधमता है। जो, मनुष्य और पशुके मांसमें कुछ फर्क नहीं समझता, उसके समान न कोई धर्मात्मा है, और न कोई पापात्मा है। जिन लोगोंके हिसाब से मांस भक्षणकी साबीती पर यह अनुमान चलता है कि " प्राणीका अंग होने से, चावलकी तरह मांस खाना चाहिए "। उनके हिसाब से-गाय से पैदा होनेके कारण, दूधकी तरह गोमूत्र भी पीना होगा। शंख और हड्डी दोनों, प्राणीके अंग होने पर भी जैसे शंख शुचि पदार्थ है, और हड्डी अपवित्र चीज है, उसी प्रकार चावल वगैरह धान्य भक्ष्य हैं, और मांस अभक्ष्य है। जो अ-क्लके दुश्मन, प्राणीके अंग मात्र होनेसे मांस व चावलको एक सरीखे समझते हैं, उनके हिसाबसे स्त्रीत्वमात्रसे माता और औरत दोनों एक सरीखे समझने चाहिएँ।

इसमें कहना ही क्या है कि एक पंचेन्द्रिय-जानवरकी हिंसा करनेसे-उसका मांस खाने से जैसे नरक गति होती है, वैसे धान्य खाने से-चावल गेहुं वगैरह पवित्र चीजें खाने से दु-र्गति नहीं होती, क्योंकि चावल वगैरह अन्न, मानवोंके लिये कु-

दरतका भोजन है, और मांस राक्षसीय आहार है । मांसभक्षी और धान्यभोजी प्राणियोंकी शारीरिक प्रकृतिमें वहुत फेरफार प्रत्यक्ष सिद्ध है।

मांसकी पैदायश और अन्नकी पैदायशके कारणोंका जमीन आसमान जितना फर्क व्यवहारमें मशहूर है, इसलिये धर्मात्मा होना चाहनेवालोंको मांसका स्पर्श भी नहीं करना चाहिए। मांस भक्षणके विषयमें ज्यादह विचार देखना हो तो हमारे गुरुवर्य पूज्यपाद शास्त्रविशारद जैनाचार्य **श्री विजयधर्मसूरि** जी महाराजकी पुस्तक **अहिंसादिग्दर्शन** देख लें।

मक्खनके दोष—

अन्तर्मुहूर्त्तके वाद मक्खनमें वहुत सूक्ष्म जीवोंकी राशि पैदा होती है, इसलिये मक्खन अभक्ष्य है। एक जीवको मारनेमें कितना पाप लगता है, तो जीवोंसे भरे हुए मक्खनको दयालु लोग कैसे खा सकते हैं ?।

मधुके दोष—

अनेक जन्तु समूहको मारनेपर पैदा होनेवाला मधु (शहद) भी काविल खानेके नहीं है।

सच पूछिए! तो शहद एक मक्खियों व भौंरोंकी लार स्वरूप ही है। ऐसी निन्दनीय चीजको कौन अक्लमंद इस्तिमाल कर सकता है ?। एक एक पुष्पसे रस पीकर मक्खियाँ जो वमन करती हैं, वह जूठा शहद किस अक्लमंदको रोचक हो सकता है ?। जिसके रसके आस्वादसे नरककी भयंकर वेदनाएँ पायी जाती हैं, वह शहद भी अगर मधुर कहा जाय, तो दुनियामें अमधुर चीज कौन ठहरेगी ?। क्या आश्चर्य की वात है

कि मक्खियोंके मुँहसे गिरा हुआ उच्छिष्ट शहद भी देव स्नानमें लोग लगाते हैं ? ॥

रात्रिभोजनके दोष—

रातको निरंकुश सचरते हुए-प्रेत पिशाच वगैरहसे उच्छिष्ट होता हुआ अन्न धर्मात्मा लोग नहीं खा सकते। मारे घोर अंधेरेके रातको अन्नमें पडते हुए जीव नहीं दिखाइ देनेके कारण, रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए। दिनके प्रकाशमें जितनी सावधानता खाते वक्त रक्खी जा सकती है उतनी सावधानता रात को हर्गिज नहीं रक्खी जा सकती। भोज्य वस्तुओंमें चींटी अगर गिरी हो, तो दिनमें मालूम पड सकती है, मगर रातके वक्त तो भोजनमें जहरी जीवों तक का भी भान नहीं रहता, और जहरी जीवों व खानेवालोंको नुकशान तथा प्राण तककी हद्दपर पहुँचना पडता है, इसमें क्या सन्देह ?।

देखिए ! चींटी बुद्धिका घात करती है। जू, जलोदर पैदा करती है। मक्खी वमन कराती है। मकडी, कुष्ट रोग जगाती है। कंटक (कांटा) और लकडीका टुकडा, गलेमें पीडा उत्पन्न करता है। शाक वगैरहमें गिरा हुआ बिच्छू तालुको तोड डालता है। और गलेमें लग गया हुआ वाल स्वर भगके लिये होता है, इत्यादि रात्रिभोजनके दोष सबको प्रत्यक्ष विदित हैं। रात्रिभोजनके लिये जैनाचार्योंकी ही नहीं बल्कि और धर्माचार्योंकी भी साफ मना ही है।

देखिए ! वैदिक धर्मके वाक्य—

" त्रयीतेजोमयो भानुरिति वेदविदो विदुः।
तत्करैः पूतमखिलं शुभं कर्म समाचरेत् " ॥१॥

" नैवाहुतिर्न च स्नानं न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं वा विहितं रात्रौ भोजनं तु विशेषतः" ॥२॥
" देवैस्तु भुक्तं पूर्वान्हे मध्यान्हे ऋषिभिस्तथा ।
अपरान्हे च पितृभिः सायान्हे दैत्यदानवैः" ॥३॥
" सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः सदा भुक्तं कुलोद्वह !।
सर्ववेलामतिक्रम्य रात्रौ भुक्तमभोजनम्" ॥ ४ ॥
" हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चंडरोचिरपायतः ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्मजीवादनादपि" ॥५॥

अर्थः —

सूर्य, ऋग् यजु साम इन तीन वेदोंके तेजः स्वरूप है । उसके किरणों से पवित्र हुआ—सब काम करना चाहिए । रात को सूर्य न होनेसे खानेका काम करना धर्म विरुद्ध है । रातको आहुति स्नान श्राद्ध देवपूजा और दान नहीं करना, और भोजन तो विशेष रीतिसे—हर्गिज नहीं करना । पूर्वान्हमें देवताओंने खाया, मध्यान्हमें ऋपियोंने, उत्तरान्हमें पितृओंने, शामको दैत्य—दानवोंने, और सन्ध्या के वक्त यक्ष—राक्षसोंने खाया । इसलिये सब वेलाओंको छोडकर रातको जो खाना है, सो अभोजन है—धर्म नीतिसे वखिलाफ है ।

इस शरीरमें दो कमल हैं—एक हृदयका कमल, दूसरा नाभिका कमल । हृदयका जो कमल है, वह अधोमुख है, और नाभिका कमल ऊर्ध्वमुख है । ये दोनों कमल सूर्य के अस्त हो जाने पर संकुचित हो जाते हैं, इस लिये, और सूक्ष्म जीवों के भी भक्षण का प्रसंग होनेके कारण सूर्यास्तके बाद नहीं खाना चाहिए ।

जीवों के डरसे सम्बध रखते हुए रात्रिभोजनको करनेवाले लोगोंको अधमोंके शुमारमें शास्त्रकारोंने गिना है। दिन व रातको जो खाता ही रहता है, वह सचमुच सींग और पुच्छ बिनाका पशु ही है। रातको नहीं खानेवाले लोग आधे दिन के उपवासी हैं, अतएव महीनेमें पन्द्रह दिवस के, वर्षमें आधे वर्ष के, और सारे जीवनमें आधे जीवनभर के उपवासी हैं, यह बिना शास्त्र प्रमाण के स्वानुभव सिद्ध रात्रिभोजन परिहारका फल है। रात्रि भोजनके पापका दुरन्त फल-उल्लू कौआ बिल्ली साँप सुअर गिद्ध बिच्छू वगैरह भयंकर दुर्गतियाँ हैं।

देखिए! मार्कण्डऋषि क्या कह रहे हैं—

"अस्तं गते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेन महर्षिणा" ॥१॥

अर्थः—दिवानाथ (सूर्य) अस्त हुआ कि पानी रुधिर के समान हुआ, और अन्न मांस के समान भया, यह बात मार्कण्ड ऋषिने कही है।

और भी—

"मृते स्वजनमात्रेऽपि जायते सूतकं किल।
अस्तं गते दिवानाथे भोजनं क्रियते कथम्" ॥१॥

अर्थः—स्वजन-स्ववर्गीय मनुष्य मात्र के मर जाने पर भी सूतक लगता है, तो भला यह तो दिवानाथ जगत्की चक्षु लोक बान्धव है, तो इसके अस्त हो जाने पर खाना कैसे हो सकता है? इसलिये रात्रिभोजन का परित्याग करके दिनभरके भोजनसे सन्तोषी रहना, यह मानव जीवन के सुधारका एक अंग है। धन्य है उन महात्माओंको, जो दिन के प्रारम्भ की दो

घडी छोडकर ही भोजन शुरू करते हैं, और दिनके अवसानके दो घडी पहले भोजन बंद कर देते हैं।

ग्यारहवाँ अभक्ष्य

द्विदल—

धर्मात्माओंको कच्चे गोरस (दूध–दहीं–छाछ वगैरह) के साथ द्विदल–दोदल वाले–मूंग मठ चणा आदि (पक्का हो या कच्चा हो) अन्न कभी नहीं खाना चाहिए। बहुतेरे जैन नाम धारी भी लोग, खिचडीके साथ गरम नहीं किया हुआ दहीं–छाछ खानेमें आसक्त रहते हैं, मगर शास्त्र दृष्टिसे यह पाप भोजन है। हमारी नजरसे जीवोत्पत्ति नहीं दिखाई देनेसे अभक्ष्य चीजोंको भक्ष्य मानना यह अज्ञानता है। हमारी क्षुद्र–स्थूलदृष्टि सूक्ष्म–अतिसूक्ष्म जीवोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकती, और इसीलिये अभक्ष्य पदार्थोंमें जीवोंका अभाव मानना भी नहीं हो सकता। आप्त प्रवचन ही जब अभक्ष्योंमें जीव सत्ता साबीत कर रहा है, तो (भले ही हमारी स्थूलदृष्टि जीव सत्ता को न देखे) हमें इस विषयमें रत्तीभर भी शंका रखनेका स्थान नहीं मिल सकता। अनन्त पदार्थ ऐसे हैं कि जिन्हें हम हमारी नजरसे नहीं देखते हुए भी वे धडक स्वीकार करनेको तैयार हैं, तो फिर अभक्ष्यगत जीवोंने क्या अपराध किया कि जिनके माननेमें, आप्त–प्रवचन जैसा मजबूत सबूत रहते पर भी हम हिचकते हैं ?।

ग्यारह अभक्ष्य बताए। बाकीके ग्यारह अभक्ष्य ये हैं—

१२ बरफ १३ नशा १४ ओले १५ मट्टी १६ बहुबीजफल १७ संधान (आचार) १८ बैंगण १९ तुच्छफल २० अज्ञातफल २१ चलितरस २२ अनंतकाय।

बत्तीस अनन्तकाय—

१ सुरनकंद २ वज्रकंद ३ हरीहलदी ४ सितावरी ५ हरा नरकचुर ६ अद्रक ७ विरयावली ८ कुंवारी-गुवारपाठा ९ थोर १० हरिगिलोय ११ लस्सन १२ वासकरेला १३ गाजर १४ लुनिया की भाजी १५ लोढिया की भाजी १६ गिरिकर्णिका १७ पत्तों के कुंपल १८ खरसुआ १९ थेगी २० हरामोथा २१ लोणसुखवली २२ खिलहुडा २३ अमृतवेली २४ कांदामूला २५ छत्रटोप २६ विदल के अंकुर २७ वथवे की भाजी २८ वाल २९ पालक ३० कुली आमली ३१ आलूकंद ३२ पिंडालू

ये, बत्तीस अनन्तकाय युक्त बाईस अभक्ष्य कदापि नहीं खाने चाहिऍ। मरना एक ही बार है, मगर पाप करके जीवनको सम्हाल लेना अच्छा नहीं। संसारमें खानेके लिये सैंकडों चीजें, जो कि अभक्ष्य-पापपोषक नहीं है, मौजूद है, तो फिर निषिद्ध वस्तुऍ क्यों खाना? । रोटी शाक दाल कढी दूधपाक मलाई हलवा पुरी कचौरी मिठाई पकौडो रायता लड्डु पेंडा मोतीचूर वगैरह दिव्य भोजनोंसे पूरी तृप्ति-पूरा स्वाद जब मिल जाता है तो अभक्ष्योंका स्पर्श क्यों करना? । हरी वनस्पतियां भी संसारमें बहुत है कि जिनका स्वाद दिव्य अमृतको भी भूलानेवाला है, और अभक्ष्यकी भांति पापपोषक नहीं है । आम केला नारंगी सफरचन दाख खरबूजा अमरूद-तरबूज वगैरह रसमय वनस्पतियों से क्या अभक्ष्योंका स्वाद पूरा नहीं पड सकता है? । तरकारी

बनानेके लिये, छोड अभक्ष्योंको और वनस्पतियां क्या नहीं हैं?। सच पूछो तो ककडी तुरई परवल चिभडा दूधी भींडी करेला भाजी फली कंटोला वगैरह स्वादिष्ट तरकारियोंके सामने अभक्ष्योंका स्वाद कुछ भी नहीं है। अभक्ष्य चीजें स्वादिष्ट लगो, तौ भी उन्हें दुर्गतिके हेतुभूत समझ छोडना लाजिम है। क्यों कि इतर वनस्पतियोंकी अपेक्षा अभक्ष्य-अनन्त कायोंमें ज्यादह क्या बेशुमार जीवसत्ता मानी गई है। मुनिजनोंके लिये तो सचित्त व अभक्ष्य दोनोंका स्पर्श करना भी निषिद्ध है तो खानेकी तो बात ही कहाँ।

"भोगने योग्य चीजोंका परिमाण करनेसे इस व्रतका पालन होता है" यह पहले कहा गया है, और इसी लिये चौदह नियम भी धारण किये जाते हैं। चौदह नियम क्या है मानो! दुनिया की-सारे संसार की उपाधियों के रोकने का जबरदस्त किला है। और कुछ ज्यादह न बन आवे तो चौदह नियम तो जरूर गृहस्थोंको धारने चाहिएँ। जिनसे त्रिलोकीके आरंभपापकर्मरूपी लूटेरों से बचना सहज होता है वे चौदह नियम पुण्यशालियोंके मनोमंदिरोंमें स्थान पाते हैं। चौदह नियमकी विधि वगैरह दूसरी पुस्तकोंमें से देख लें। पूरा हुआ भोगोपभोग परिमाण व्रत॥
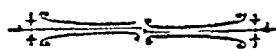
आठवाँ अनर्थदण्ड त्याग गुणव्रत.

आठवें **अनर्थदण्ड त्याग व्रतकी** पहचान करनेमें पहले अनर्थदंडका भान करना जरूरी है। अनर्थदंड चार प्रकारका है- अपध्यान, पापकर्मका उपदेश, हिंसाजनक शस्त्रोंका देना, और प्रमादाचरण। इनमें अपध्यान दो प्रकारका है-आर्त्तध्यान और

रौद्रध्यान। आर्त्तध्यान चार प्रकारका है–एक, अनिष्ट–रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्दका सजोग होनेपर, उसके वियोगका–हटानेका चिंतन करना। दूसरा शूल वगैरह व्याधि आने पर उसके हटाने की चिंता करना। तीसरा अच्छे अच्छे भोग्य वस्तुओंका कभी वियोग न हो, ऐसा अध्यवसाय करना। चौथा राज राजेश्वरकी ऋद्धिकी प्रार्थना करना। रौद्र-यान भी चार प्रकारका है–हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी, और धनरक्षानुबन्धी। हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान वह है कि जीवोंके वध करनेकी भावना करना। मृषानुबन्धी रौद्र यान यह है कि अनेक प्रकारके माया प्रपच करके जीवोंको क्लेश देनेका विचार करना। स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान वह है–धन हरण करके प्राणियोंको दुःखी करनेका इरादा रखना। धनरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान वह है कि दिनरात धनके रक्षण करनेकी चिन्तामें इस कदर गुम होना, कि सब पर शकाशील हो के बुरे अध्यवसायमें मग्न रहना। यह अनर्थदंडका–चार प्रकारका आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान नामक प्रथम भेद हुआ। दूसरा भेद–पापकर्मका उपदेश। "बैलका दमन करो! बैलको पीटो!। क्षेत्रको खेडो!, मेघ बरस चूका है, बोनेका वक्त चला जायगा, इसलिये फौरन खेतकी सम्हाल लो?। घोडेको षढ बनाओ! वनमें दावानल लगा दो! तालाबको सूखा दो!" वगैरह पापकर्मका उपदेश करना यह दूसरा अनर्थदडका भेद है। हल तलवार मुसल छुरी वगैरह हिंसाजनक चीजोंका देना, यह तीसरा अनर्थदडका भेद। मारे कुतूहलके गीत नाच नाटक वगैरह तमाशे देखना, कामशास्त्रमें रमण करना, शराब शहद, वगैरह पापमय चीजोंका सेवन करना, जलक्रीडा करना, हिंडोले पर हिंचकी खाना, शत्रुके पुत्रोंके साथ वैर–विरोध बढाना, तथा भोजनकथा, स्त्रीकथा, देशकथा, राजकथा वगैरह बालचेष्टाएँ, प्रमादाचरण है, यह चौथा भेद अनर्थदडका हुआ।

इन चारों प्रकारका अनर्थदंड धर्मात्मा श्रावकोंको वर्जना चाहिए। जहाँ तक मनकी पवित्रता न हुई, वहां तक धर्म—राजेका प्रवेश मनोभवनमें नहीं हो सकता, इस लिये मनमें आर्त्तध्यान रौद्रध्यान को पैठा कर पापका पोषण नहीं करना चाहिए।

हमेशा अच्छे अच्छे विचारोंमें रमना मनुष्यमात्रका फर्ज है। किसीपर बुरा विचार करना, यह सचमुच मनुष्यत्वकी गद्दीसे नीचे उतर जाना है। वास्तवमें कहा जाय तो संसारमें कोई किसीका दुश्मन नहीं है, तो फिर किस पर ईर्ष्या विरोध द्वेष क्रोध करना चाहिए, और अपनी आत्मामें तामसिक प्रकृतिका पाँव ठहराना चाहिए? । व जरिए पुरातन कर्मके लोग शत्रु मित्र होते हैं। जैसी अपनी प्रवृत्ति होती है, वैसा असर दूसरेपर पडता है, इस लिये कहनेका मतलब यह है कि प्रेम या द्वेषको जन्म देना अपने ताल्लुक है। जब यही बात है, तो अपने दिलको एकदम उद्धत नहीं बनाके सत्त्व प्रकृतिसे रौनकमंद बनाना चाहिए। गम खाना यह अक्कका पहिला प्रतिफल है। जो शख्स गम खानेका व्यसनी है, उसे आफतोंका वेग उठाना नहीं पडता। हरएक प्रतिकूल कामके प्रसंगपर गम खा के हृदयको समझाना चाहिए कि द्वेषरूपी अन्धकारसे अन्धा न बने। सब काम निश्चय नयसे जब कर्मके ताल्लुक हैं, तो फिर धनकी पैदायशके लिये मानसिक स्थिति को चिंता रूपी धूंवेसे क्यों मलिन करना?। शुद्ध दिलसे अपनी जिन्दगी का विचार करो! और नीतिपूर्वक व्यापार द्वारा धन पैदा करो, मगर अत्यंत मोहदशामें क्यों फँसो!। मूढ बनके आर्तध्यान करनेसे कोई कार्यकी सिद्धि नहीं होती, कार्यकी सिद्धि उद्यमपर निर्भर है, तो विवेक पूर्वक—सत्त्वप्रकृतिको आगे धरकर ऐसा उचित चिंतन करो कि आत्मामें तिमिरका जोर बढने न पावे, और धन पैदा करनेका रास्ता सूझ

जावे। ससारमें जितना क्लेश विरोध झगडा नखेडा क्रोध द्वेष जन्म लेता है, वह प्रायः धनकी प्राप्तिरूप प्रधान मतलबकी हानिके सबबमें होता है। स्थिरता देवीका शरण लेके यह भावना जरूर रखनी चाहिए, कि "किसीका किया बुरा कदापि नहीं होता, यदि अपनी आत्मा पर सद्‌भाग्यका तेज दीप रहा है। जो चीज हमारी है, वह हमारी ही है, उस पर देवता तक का भी आक्रमण नहीं हो सकता। इसलिये लाभ हो, या टोटा हो, मारे आनदके फूलना नहीं चाहिए, और दुःख रूप तिमिरसे अधा नहीं होना चाहिए। कोमल दिलसे ससारके काम करता हुआ गृहस्थ भी ससार बन्धनको बराबर ढीला कर देता है, इसमें कोई सदेह नहीं। "आर्त्त-ध्यान बुरा है, बुरे कर्मोको जन्म देनेवाला है और तिर्यच गतिको लेजानेवाला सार्थवाह है" ऐसा समझकर बुरे परमाणुओंको मनमें दाखिल होने न दें।

मारने पीटनेकी दुर्भावना करता हुआ मनुष्य, इस कदर क्लिष्ट कर्मोंको बाधता है कि जिनसे नरक आदि दुर्गतिका मिहमान हुए सिवाय नहीं रहता। सब कुछ जब कर्मके ताल्लुक हैं—कोई स्वतन्त्र हो के भला बुरा नहीं करता, तो किसे मित्र माना जाय किसे दुश्मन कहा जाय? । मारना पीटना बिगाडना तो दूर है, मगर उसका रौद्र अध्यवसाय ही मारने पीटनेकी क्रियाका पाप पैदा कर बैठता है, तो फिजूल मन परिणतिको क्यों बिगाडो? और नरकगतिको जाने की टीकट क्यों लो? ।

पापकर्मका उपदेश करके फिजूल कर्म बाधना यह अक्लमदी नहीं है। जिसमें अपना मतलब न हो—अपना प्रयोजन न हो, उस काममें—जो कि पापसे भरा है—उपदेश दे कर प्रेरणा करके पापका भागी बनना यह केवल मूर्खता का नमूना है। हाँ अपना मतलब हो, अपने स्वजन—कुटुब सबन्धी प्रसग आ पडा हो,

तो वात न्यारी है, क्यों कि गृहस्थों को दाक्षिण्य की जगह पर सब व्यवहार चलाना पडता है, मगर जहाँ दाक्षिण्यका स्थान नहीं है, वहां फिजूल पापकर्म का उपदेश नहीं करना, और हिंसाजनक चीजें नहीं देना ।

पूर्वोक्त प्रमादाचरण विवेकी जन नहीं करते । संसारकी विचित्र—नानारूपकी घटनाएँ निहाली जायँ—इन तर्फ निगाह की जाय, तो एक प्रकारकी यह नाटकशाला ही प्रतीत होगी, क्योंकि अनादि कालसे नये नये पाठका खेल करते हुए प्राणीगण चित्र विचित्र आश्चर्य घटनाओंमें रम रहे हैं । रात थोडी और वेष ज्यादह । थोडी तो आयुकी स्थिति और मनोरथोंका कोई थाह नहीं । ऐसी भयंकर भव स्थिति की तरफ खयाल दे के प्रमादाचरणोंसे हटजाना चाहिए । इन्द्रियोंके वश हो के प्राणियोंने वडा कष्ट उठाया, और उठाते भी जा रहे हैं, तो अब सचेत होनेका समय है । यों ही वालक्रीला हमेशा रहा करेगी तो सोचो ! भव से छुटकारा कैसे होगा, और परमानन्द दशा कैसे पाओगे ? । जो चीजें वाह्य दृष्टिसे रमणीय मालूम पडती हैं, वे ही अन्तर्दृष्टि से देखोगे तो निःसार रूपसे मालूम पडती हुई वैराग्यका जन्म देंगी । ऊपर ऊपरकी स्थूल नजरसे विषयान्ध नहीं वन कर आत्म तत्त्व पर चित्त लगाना चाहिए । ज्यों ज्यों अन्तर्दृष्टि को रोशन वनाते चलोगे, त्यों त्यों पुराणी प्रवृत्ति वालक्रीला—मूर्ख चेष्टा ही भासेगी, और पौद्गलिक विषयोंकी रौनक जहरके रस सरीखी जानोगे, वस ! क्या कहें, समझ सको तो समझ लो !, अनर्थदंड कैसा बुरा है, लेख गौरवके भयसे ज्यादह नहीं वढाते । पूरा हुआ तीसरा गुणव्रत—आठवाँ अनर्थ दंडव्रत ।

॥ गुणव्रत खतम हुए ॥

शिक्षाव्रत.

नवाँ सामायिकव्रत.

हो गये तीन गुणव्रत। अब चार शिक्षाव्रतोंका अवसर है। उनमें पहिला **सामायिक** व्रतका स्वरूप बताते हैं—

दो घडी तक रागद्वेष का परिहार करके निरुपाधि-समभावमें रहनेका नाम है-सामायिक। सामायिक शब्द की अन्वर्थता है- **सम** यानी रागद्वेषसे रहित बने हुए को, **आयो** अर्थात् ज्ञानादि सपदाका जो लाभ, यानी प्रशमसुखकी प्राप्ति। यह अर्थ यद्यपि **समाय** शब्द ही का हुआ, तथापि **समाय** शब्दसे स्वार्थ (उसी शब्दके अर्थ) में **इकण्** प्रत्यय आनेसे **सामायिक** शब्दका भी वही अर्थ समझना चाहिए। अथवा **समाय** यानी प्रशमसुखकी प्राप्ति है प्रयोजन जिसका, वह सामायिक है, इस प्रकार भी **प्रयोजन** अर्थमें **समाय** शब्दमे **इकण्** प्रत्यय मिलाने पर **सामायिक** शब्दका अर्थ हो सकता है।

सामायिकमें बैठा हुआ गृहस्थ साधु जैसा है, इसमें क्या कहना ?, इसी लिये तो सामायिकमें बेठे हुएको देव स्नात्रपूजा करनेका अधिकार नहीं है, क्यों कि भावस्तव की प्राप्ति के लिए द्रव्य स्तव का अवलम्बन करना पडता है। सामायिक करने पर तो भावस्तव जब प्राप्त हो ही जाता है, तो फिर (सामायिकमें बैठे हुएको) देव स्नात्रपूजा करनेका कोई प्रयोजन नहीं देखते।

सामायिक लेके समभावसे प्रसन्न मुँहसे खुशदिलसे और शरीरकी अचपलता पूर्वक धर्मशास्त्र पढना चाहिए। संसारकी वेशुमार दुःखमय उपाधियोंसे छुटकर निवृत्तिकी सडक भूत सामायिक प्राप्त हुआ, तहां भी यदि सावद्य प्रवृत्ति का आक्रमण होता रहे, विकथा पिशाची की परवशता में झुकना पडे, मायादेवी की प्रपञ्च जालमें फँसना पडे, क्रोध दावानल में झम्पापात खाना पडे, अभिमान-अजगर का ग्रास होना पडे, और लोभ रूपी साँपसे मुर्च्छित होना पडे, तो फिर कहाँ रोना। सचमुच यह तालाव प्राप्त करके भी प्यासा रहना है, अगर सामायिक--भवन में घुसकर के भी संसार की गर्मी का दूर हटना न हो।

अपार संसार महासागर में वडी मुश्किलीसे नर भव को पा कर जो मनुष्य विषय सुख के तरंगों में चक्कर खा रहा है, और दो घडी तक भी आत्मश्रेय नहीं साध सकता, वह समुद्रमें गिरने पर मिले हुए नाव को छोड पत्थर पकडनेवाले जैसा महा-मूर्ख है। वही पंडित है, जिसने अपना परमार्थ साधा। वही विद्वान् कहा जा सकता है, जो संसार के विषयों के फंदेमें नहीं फँसा। पोथे पढने मात्रसे पंडिताई नहीं कही जा सकती, किन्तु शास्त्रविद्याके मुताविक सदाचार पालनेसे सच्ची पंडिताई मिली कही जा सकती है। "**ज्ञानस्य फलं विरतिः**" ज्ञानका फल है विरति—विषयों से—दुष्प्रवृत्तियों से विराम पाना--दूर हटना। ज्ञान प्राप्त हुआ, पर आचार अच्छा न हुआ तो वह ज्ञान किसी कामका नहीं, उलटा भव भ्रमणका हेतु ही वनता है। वह कम अक्लका भी आदमी स्तुतिपात्र है, अगर अच्छी प्रवृत्ति पूर्वक परमात्मा की परिचर्या करता हो, मगर विद्वान् हो के भी उपदेश-में अच्छी अच्छी वातें वता के अगर दुराचारोंमें रमण किया करता हो, तो वह आलादर्जेका मूर्ख है—फूटी किस्मतका आदमी

है। ज्ञानके दीपने पर भी जो मनुष्य भवकूपमें गिरनेका काम करे, तो वह सचमुच जान बुझ कर ही अपने गले पर छुरी फेरनेका काम करता है।

यह पक्का समझें कि केवल ज्ञान मात्रसे क्या होगा ?। वैद्य पुरुष की वैद्यविद्या वैद्यका क्या उपकार करेगी–वैद्यको आरोग्य पर कैसे पहुँचा देगी ? यदि वैद्य विधि पूर्वक औषधको इस्तिमाल न करेगा। तैरने को जानता हुआ भी आदमी यदि तैरनेकी क्रियाको अमलमें न लायगा, तो उसका ज्ञान उसे जलके पार कैसे पहुँचायगा ?, इसलिये ज्ञान ज्यादह हो या कम हो, क्रिया अगर अच्छी होगी–चरित्र पवित्र होगा, तो समझ लो! वह महात्मा है। ज्ञानके विना भी चरित्रकी पवित्रतासे महात्मा बन सकता है, मगर चरित्रके विना सिर्फ ज्ञान से ज्ञानी नहीं बन सकता, इसलिये चरित्रकी शुद्धि करना मानव जीवन का अव्वल उद्देश है, इसी से आदमी भव समुद्रका पार ले जाने वाली स्टीमर पा सकता है और उसपर बराबर आरोहण भी कर सकता है। चरित्रकी शुद्धि–जीवनकी पवित्रता सद् विचारोंसे जन्म लेती है, बस ! सद्‌विचारों का जन्म कैसे पैदा हो ? इसीलिये शास्त्रकारोंने दो घडी तककी सामायिक स्थिति बताई है कि जिस व्रतमें आरूढ हुआ पुरुष अपनी आत्मवृत्तिके सुधारनेके लिये–अपने जीवनको निर्मलता होनेके लिये अच्छे अच्छे विचारोंका जन्म दे सके। दिनभर संसार चक्रको घूमाता रहा पुरुष दो घडी भी अपनी आत्माके लिये यदि न निकाले, तो कितनी अफसोस की बात ?। जो शरीर हमारे साथ आनेवाला नहीं है, उसके लिये सारी जिन्दगी खतम की जाय और खुद अपने लिये–अपनी आत्माके मतलबके लिये–खास आत्मिक प्रयोजनार्थ दो घडीका भी समय न निकाला जाय, यह कितनी विवेककी रोशनी ?।

संसारका—विनाशी क्षणिक असार परिणाममें भयंकर, और विरसावसान सुख बुद्धिमान् लोग नहीं चाहते। प्रेक्षावानोंकी प्रवृत्तिका अव्वल उद्देश यही रहता है कि आत्मिक सच्चित्सुखको प्राप्त करना। आत्मिक सुख पानेके लिये कोशिश करनेका फर्ज प्राणी मात्र का है—इसी लिये कोशिश करके मानव जीवनकी सफलता करना मनुष्य मात्र का धर्म है, मगर कोशिश करना बडा कठिन है, खैर! ज्यादह कोशिश न बन आवे तो दो घडी तक की सामायिक ही सही। प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन एक सामायिक तो जरूर ही करे। क्या दिनभर काम करनेवाला मनुष्य दो घडीका टाइम सामायिकके लिये नहीं निकाल सकता? बराबर निकाल सके यदि धर्मकी गरज अपने दिलमें जोर मार रही हो। जितनी गरज पेट देवताकी पूजाकी होती है, जितनी गरज प्राणप्रिया औरतकी होती है, जितनी गरज पुत्र—मित्रकी होती है, जितनी गरज लक्ष्मी देवीकी होती है, और जितनी गरज, वडाई महत्त्व इज्जत ओहदा वगैरह की होती है, उतनी ही क्यों?, उससे आधी भी गरज अगर धर्मकी न हो तो अफसोस। संसारके कामोंमें, दिनरात जितनी फिक्र करनी होती है, उसके चौथे हिस्सेकी भी फिक्र धर्म के लिये अगर न जाग उठे, तो फिर धर्म प्यारा कहाँ रहा?। खयाल रहे कि यदि धर्म प्यारा न हुआ, तो घर की रंडीका ही प्यार पहले नहीं ठहरेगा, क्यों कि संसारके सुखोंका भी प्रधान बीज सिवा धर्म के और कोई नहीं है। जो, धर्म को छोडकर सुख पानेकी चाहना करता है, वह मूर्ख नावको छोड समुद्र के पार पहुँचना चाहता है। वह, सुंदर भोजन रखने के योग्य सोने के थाल में राख फैंकता है, जिसकी धर्म पर नजर नहीं जाती। उसने परमानन्दको प्राप्त करानेवाले अमृतको अपने पैर धोने में उडा दिया, जिसका दिल धर्म पर प्रेमालु न रहा।

उसने बडे हाथी से जो कि सम्राट्को काबिल बैठनेके कहा जाय, लकडियों का ढेर उठवाया, जो आत्मश्रेय संबंधी विचार करने को भाग्यशाली न हुआ। वह कौएँ उडानेमें चिंतामणि को फैंकता भया, जो घडीभर भी ससार की आफत से छुट्टी न पा सका।

दिनभर के पुण्य पापका टोटल मिलानेका–दो घडी जितना वक्त जरूर निकालना चाहिए। "दिन दिन पापकर्म की कमी होती चले" इस पर खूब ध्यान रखना। दौलत इज्जत और भोगसजोगके बढानेकी अभिलाषा बढती रहती है, और उसके लिये उद्यम भी कमरकस होता चला जाता है मगर आत्मस्वार्थकी सिद्धि करनेका प्रयत्न तो दूर रहा किंतु स्वप्न भी नहीं आता, यह कितनी घोर नींद ?। सज्जनो! दो घडीका विश्राम लो!, संसार की महेनत की थकावट लो!, शाति पाओ!, स्वस्थ हो जाओ!, आत्मचिन्तन करो!, कर्तव्य श्रेणी पर आरुढ हो जाओ!, आत्ममलको हटाकर पवित्रता प्राप्त करो!, और सदनुभवानन्दकी लहरियोंमें अद्वैत सुख प्राप्त करो, बस! **सामायिक** व्रत पूरा हुआ॥

दशवाँ देशावकाशिक व्रत.

छठें **दिग्विरमण** गुणव्रत में दशों दिशाओं में गमन करनेका जो परिमाण किया हो, उसमेंसे संक्षेप करना, इस व्रतका मतलब है, इतना ही नहीं. बल्कि **प्राणातिपातविरमण** वगैरह व्रतों को भी सक्षिप्त करना इसी व्रतमें शामिल है।

छठवें व्रतमें जो दिशाओंका परिमाण किया है, उसे यावज्जीव श्रावक पाला करे। परतु खयाल रहे कि छठवें व्रतमें जो बहुत क्षेत्र छुटा रक्खा गया है, वह हमेशा तो काममें नहीं आता

उसका प्रतिदिन तो काम नहीं पडता, इसलिये दिन दिन--प्रतिदिन उसका संक्षेप करे, इसी प्रकार अणुव्रतादि में समझ लेना चाहिए । यह व्रत चार मास एक मास पन्द्रह दिन पांच दिन एक अहोरात्र एक दिन एक रात एक मुहूर्त्त तक भी हो सकता है। दशवाँ व्रत पूरा भया ॥

ग्यारहवाँ पोषधव्रत—
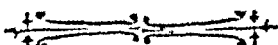
अष्टमी चतुर्दशी पूर्णिमा अमावास्या इन पर्व तिथियों में पोषधव्रत का आदर अवश्य करना चाहिए। उपवास आंबिल और एकाशन करके भी पोषधव्रत हो सकता है । एकदिन एकरात अहोरात्र अथवा अमुक दिनों तक पोषध में बैठा हुआ मनुष्य अपने कठिन कर्मों को चूर्ण कर डालता है। पोषधव्रत क्या है मानो! अमुक दिनकी मर्यादा का साधुत्व है। **पोषध** शब्दका अर्थ है— **पोषं** यानी पोषण, अर्थात् धर्मका पोषण **धत्ते इति धः** यानी करे अर्थात् पुण्यका–धर्मका पोषण करनेवाला पोषध है । जिसके दिन खुश किस्मत के हों, वही पोषध करनेको भाग्यशाली हो सकता है। भवरोगको मिटानेका परम औषध रूप पोषध श्रावक लोग अवश्य करें । पुण्यप्रकर्ष का उदय होता है तब ही पोषध व्रत की प्राप्ति होती है । दीक्षा लेना यदि न बन सके तो पोषध करके तो साधुपन की थोडी बहुत खुशबू लेनी चाहिए, ताकि भवभ्रमण का कष्ट दूर हो जाय । संयम पर जिसका प्रेम नहीं–दीक्षा लेनेकी जिसको रुचि नहीं, वह कम किस्मत का मनुष्य श्रावक धर्म का भी अधिकारी बराबर नहीं कहा जाता । कहा भी है–

" यतिधर्मानुरक्तानां देशतः स्यादगारिणाम् "

अर्थात् मुनिधर्मके अनुरागी–गृहस्थों (श्रावकों)को देशतः चारित्रधर्म है । यही बात स्पष्ट रूपमें बताई है कि—

"सर्वविरतिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः, यतिधर्मानुरागरहितानां तु गृहस्थाना देशविरतिरपि न सम्यग्"।

अर्थात् " देशविरति परिणाम जो है, वह सर्वविरति की अभिलाषा करके सम्बद्ध है, यानी मुनिधर्म पर अनुराग नहीं रखनेवालों को देशविरति का भी यथार्थ लाभ नहीं है"। साधु होना न होना यह बात दूसरी है, मगर " साधुधर्म कब उदयमें आवे " यह भावना तो श्रावकों को पूरी रहती है, पीछे भले ही अन्तराय बलसे साधु होनेका मौका न मिले-साधुत्व प्राप्त न होवे।

इससे यह बात हुई कि श्रावक लोगों को साधुधर्म जब प्यारा है, तो साधुधर्म की पूर्ण मौज नहीं उठा सकने वालोंको पोसह कर के भी मुनि धर्म के आनन्द का दिग्नुभव लेना अति जरूरी है। कह भी गये हैं कि पोसह क्या है मानो ' अमुक दिन की प्रव्रज्या है। क्या महीने भर में दो दिन एक दिन भी ऐसा नहीं निकाल सकते कि ससार की उपाधियोंको छोडकर पोसह लिया जाय ?।

तेली के बैल की तरह ससारचक्र में सारी जिन्दगी चक्र खानेवाले, मोह दावानल पर अपनी आत्मा को नेहद रहानेवाले गदहे की तरह अपनी पीठपर ससार के बोझ से हमेशा लदे रहनेवाले कृष्ण लेश्या की उग्रता से भिल्ल सरीखे दिखाई देनेवाले, महा मोहान्ध मनुष्य जाति मात्रसे भले ही मनुष्य कहलाओ! मगर वास्तवमें गुण नय से पशु ही हैं, या यों कहिए ' जगली मनुष्य हैं। गुणवत पशु पक्षी अच्छे, मगर निर्गुणी मोहान्ध मनुष्य अच्छे नहीं। वे लोग उनकी माँ के पेट पर पत्थर अवतरे हैं, जो मोह रूपी विष्ठा में सर्वांगीणतया मग्न रहते हुए धर्म की तर्फ नजर नहीं

झुकाते । मनुष्य जन्म पा के भी यदि कार्यसिद्धि न हो तो हाय! फिर कहां रोना ? ।

देखिए मनुष्यों की हालत—

" आहारनिद्राभयमैथुनानि
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः " ॥१॥

अर्थः—

आहार नींद भय कामचेष्टा ये सब बातें मनुष्य और पशु सर्व साधारण हैं—इन बातोंसे मनुष्य और पशुमें समानता है, मगर मनुष्यों में मनुष्यत्व का चिन्ह धर्म ही है धर्म अगर न रहा धर्म अगर न पाला, तो समझ लो ! कि मनुष्य पशु के समान है ।

धन्य हैं वे गृहस्थ लोग भी, जो पवित्र—उत्कृष्ट पोषध-व्रतका पालन करते हैं । पोषध के पारणे के समय में, याद रहे कि साधुओं को दान दे के पारणा करना चाहिए । उपाश्रय पर जाके मुनिओं को निमन्त्रण करे कि " लाभ दीजिए ! " ।

नवकार सहित (नवकारसी) पच्चक्खाण के वक्त श्रावक निमन्त्रण करने को आया हो, और साधुओं को नवकारसहित पच्चक्खाण न हो, तो साधु यही कह दें कि **वर्त्तमान जोग** —इस वक्त प्रयोजन नहीं है । अगर श्रावक की तर्फसे भूरि भूरि प्रार्थना होवे तो उसका भाव रखने को साधु उसके घर गोचरी जायँ । मार्गमें श्रावक साधुओंके आगे चले । घरपर ले जाके श्रावक साधुओं से आसनपर विराजने की प्रार्थना करे, अगर साधुजी बैठें तो अच्छा, नहीं तो विनययुक्त होके श्रावक भिक्षा

देना शुरू करे । श्रावक को चाहिए कि खुद अपने हाथ से दान देनेका सौभाग्य प्राप्त करे । साधु भी अवशेष रहे इतना ग्रहण करें । भिक्षा लेके जाते हुए साधुओं के पीछे थोडी कदम तक श्रावक जाय बाद पोषध व्रत का पारणा करे। अगर वे गाँवमें साधुजी का जोग न हो तो भोजन के वक्त घर के द्वार का अवलोकन करे और सच्चे दिलसे भावना करे कि—

"यदि साधवोऽभविष्यन् तदा निस्तारितोऽहमभविष्यम्"।

"अगर साधु होते तो मैं निस्तारित होता–मुझे लाभ मिलता"। (यह पोसह के पारणे की विधि)

क्या तारीफ करें आनन्द कामदेव आदि श्रावकोंकी जिनका पोपधव्रत खुद भगवान् महावीर की श्लाघापर चढा । धन्य है दृढव्रती श्रावकों को, जो बडे धैर्य पूर्वक कठिन व्रतोंकी राहपर चले जाते हैं और अपनी प्रतिज्ञा को पूरी किये सिवाय नहीं रहते । जिनकी आत्मा लघु कर्मवाली है, वे ही उत्तम पोसह की राह पर सचर सकते हैं । जिनका पुण्योदय दीपनेवाला हो, वे ही पोसह तरु की मधुर छायाका आनन्द उठा सकते हैं । जिनकी हद तरक्की पर चढनेवाली हो, वे ही पोसह रूपी किल्लेमें घुसकर धर्मराजे से मिल सकते हैं। जिनकी आत्मा परमानन्द पाने को भाग्यशालिनी है, वे ही पोसह रूप अमृतरसका पान करनेको उद्यत हो सकते हैं । धन्य है उन महाशयों को, जो मोहकी टांग ढीली कर के आगे बढते बढते यावत् धर्मराजे के किल्ले–पोसह तक पहुँच गये । धन्य है उन सज्जनों को, जो कर्म रूपी आगसे जलते हुए भी अपूर्व वीर्यसे पोसह रूपी सरोवरमें डूबकी मारते भये । धन्य है उन पुण्यात्माओं को, जो पोसह रूपी बगीचेमें एकाग्र चित्त हो के परमात्माका प्रणिधान करते हैं ।

जो लोग पढकर पंडे हो गये, और व्रत–त्यागमें उद्यमशील नहीं होते, उनकी पंडिताई पर धूल पडी। आचारका सहारा नहीं ली हुई पंडिताई किसी काम की नहीं है। इसलिये व्रत त्याग और क्रियामें उत्साही होना चाहिये। अभ्यास से शक्ति बढती है, और शक्ति के मुआफिक किये हुए तपमें दुर्ध्यानका संभव नहीं होता, एवं मन वचन काया के योग हीन नहीं होते, और इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होतीं। तपस्या की वृद्धि क्रम क्रमसे होती है। एकासन नीवी आंबील उपवास इस क्रमसे हौले हौले धीरे धीरे तपस्या करनेका बल बढता है। खाना पीना किसे अच्छा नहीं लगता? मगर मोह उतार के तपस्या करनेवालों की ही बलिहारी है। तपस्या के विना किसीके कर्म टूट नहीं सकते। तीर्थंकरों को भी बडी भारी तपस्या करनी पडी थी, तब जा के कर्मसमुद्र के पार पहुँचे। किले में पडे हुए सैन्यको–रिपुदल को, अन्न न पहुँचाने से मरण के शरण होना पडता है, वैसे ही शरीर के भीतर गुंजते हुए आत्मिक–मोहादि रिपुदल भी, अन्न न पहुँचाने से (विशुद्ध तपस्या करने से) मरण के शरण हो जाते हैं, इसमें क्या सन्देह ?। पोसह वगैर के दिनोंमें तृष्णा को छोड संतोष पूर्वक अनेक वक्त भी हितमित आहार लिया जाय, तो यह भी एक प्रकारका तप ही है।

तपश्चर्या क्रोधादि कषायों को हटाकर क्रियापूर्वक करनी चाहिए। कषायवालों की तपश्चर्या फलवती नहीं होती–जितना उचित फल है, उतना नहीं मिल सकता। यों तो तपस्या मात्र, कुछ न कुछ फल दिये सिवाय नहीं रहती, भूखे मरनेवालोंको–अज्ञानकायक्लेश उठानेवालों को परलोकमें कुछ न कुछ अवश्य ही फल मिलता है इसमें कोई सन्देह नहीं, मगर उचित फलकी प्राप्ति विशुद्ध तप से होती है। क्रिया विना सिर्फ भूखा मरना

अच्छा नहीं। जिसे परमात्मा की वचन शैलीपर श्रद्धा होगी, वह क्रियाका उत्थापन हर्गिज नहीं कर सकता।

"ज्ञान क्रियाभ्या मोक्षः" "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः"

इत्यादि आगम वचनों से ज्ञान के साथ क्रिया की भी परमावश्यकता मोक्षके लिये मानी गई है। आन्तरिक-भावना, अनुप्रेक्षा, प्रणिधान, स्मरण, वगैरह क्रियाओंमें मग्न रहनेवाला महात्मा, षडावश्यकादि बाह्य क्रियाओं में भी बराबर मशगूल रहता है। बाह्य क्रियाएँ केवल कायक्लेश नहीं हैं, किंतु आन्तरिक क्रियाओं करके गुफित हैं। धर्ममें सुस्ती करनेका काम नहीं है। सुस्ती होगी तो धर्म साधन न होगा। पुरुषार्थ स्फोरायमान करके शरीर को आन्तरिकक्रियासयुक्त बाह्यक्रियासे इस कदर जोड देना चाहिए कि अभ्यन्तर दुश्मन ढीले पड जायें, और आत्मिक अनुभव ज्योति प्रगटे, बस! इसीलिये यह पोसह व्रत गृहस्थोंके धर्म कानूनों में भगवानने रक्खा है। पूरा हुआ ग्यारहवा पोसह व्रत॥

बारहवाँ अतिथि संविभाग व्रत.

अतिथि अर्थात् मुनिजनोंको आहार पात्र वस्त्र और वसति (रहनेका स्थान) वगैरह देना, उसका नाम है-**अतिथि संविभाग** व्रत। इससे यह स्पष्ट मालूम पड सकता है कि पैसे रूपये सोना वगैरहका दान मुनिजनों को नहीं कल्पता। संसारकी उपाधियाँ-धन माल मिलकत दुलहिन वगैरह छोडकर साधु बने, तो सोचो! उन्हें पैसा कैसे काममें आ सकता है? द्रव्य साधुधर्मका जब कट्टा दुश्मन है तो साधु उसे किसी हालतमें नहीं ले सकते। जो लेते हैं, वे साफ साधुपदसे बाहर हैं,

और जो उन्हें देते हैं, वे साधुधर्म का खून पीनेवाले हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। साधु लोग भिक्षासे अपना उदर पोषण करते हैं, भिक्षासे कपडे मांगकर पहिनते हैं, किन्तु धर्मकी सेवा के लिये–धर्मका उदय बढाने के लिये, शासनकी तरक्की के वास्ते, साहित्य और मंदिरो (देवालयों) का पुनरुद्धार के लिये, समाजमें विद्याका फैलाव करनेके लिये और जातिका सुधार करनेके लिये लाखों रूपये खर्चनेका उपदेश देते हैं। मुनिराजों के पवित्र उपदेश से गृहस्थ लोग लाखों रूपये खर्चते हैं, मगर अपने वास्ते एक पाईका भी खर्च साधु लोग नहीं करवा सकते, बात भी सच्ची है कि खानेका भोजन पहिननेके कपडे रहनेकी जगह वगैरह जब मिले ही रहते हैं तो फिर किस वास्ते–किस मतलब के लिये साधुओंको पाई की भी दरकार रहे ? और ऐसी निःस्पृहता जब तक प्राप्त न हो, तबतक साधुकी हद पाना नहीं हो सकता, इसलिये निःस्पृही ही साधु कहे जा सकते हैं, और साधु निस्पृही ही होते हैं, तब ही तो उनसे लाखों रूपयोंका परोपकारी काम हो जाता है।

देखिए ! अतिथि संविभाग के लिये जैनागम—

"नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारक्कमजुअं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं अतिहि संविभागो"।

अर्थः—

न्याय (नीति) से प्राप्त, कल्पने के जोग्य, अन्नपानी वगैरह का देश काल के अनुसार श्रद्धा से सन्मान से परम भक्ति से आत्मकल्याण की बुद्धि से संयमी (मुनि) जनों को देना यह अ-

तिथि संविभाग व्रत है। धन्य है वे लोग, जो शुद्ध आहार पानी-से वक्तपर घरको पधारे हुए साधु महाराजोंका बडे दिलसे सन्मान करते हैं। जो चीज अपने दिलको वल्लभ है-परम इष्ट है, वह साधुओंके आगे हाथमें ले के खडा रहना चाहिए, और भूरि भूरि प्रार्थना करनी चाहिए कि "साहब! यह ले के मुझे कृतार्थ करो!"।

किन्हीं महानुभावों का कहना होता है कि "बेशक! भोजनका दान तो जरूर मुनियोंको देना चाहिए, मगर कपडा नहीं देना चाहिए, क्योंकि साधु लोग नग्न होते हैं, इसलिये उन्हें कपडा नहीं कल्पता, अगर कपडा रक्खे तो परिग्रहका प्रसंग हो जाय तो साधुपन नहीं रहे"। मगर तत्त्वदृष्टिसे विचारने पर कपडे पहिननेसे परिग्रही नहीं हो सकते। जैसे भोजन लेना शरीर की रक्षा के लिये मजूर है, वैसे ही कपडे का भी प्रयोजन शरीर रक्षा ही है, तो फिर भोजन की तरह कपडे लेनेमें क्या दोष है? अगर कहा जाय कि वस्त्र मोह-तृष्णाका कारण है, तो भला! आहार मोह-तृष्णाका कारण क्यों न होगा?। जिस प्रकार आहार को मोह-तृष्णा का जन्मदाता नहीं मानते हो!, उसी प्रकार वस्त्र को भी मोह-तृष्णा का कारण नहीं है-ऐसा मान लीजिए!। कपडा अगर परिग्रह है तो शरीर भी खुद परिग्रह होगा, तो कपडे की तरह उसे भी क्यों रखना चाहिए?; और भोजन भी परिग्रह होगा, उसे भी क्यों मांगना चाहिए!।

वस्तुगत्या मूर्च्छा ही को परिग्रह भगवान्‌ने माना है। वाचक मुख्य भगवान् **उमास्वाति** महाराज भी—

"मूर्च्छा परिग्रहः" इस सूत्रसे तथा—

"शीतवातातपैर्दंशैर्मशकैश्चापि खेदितः।

मा सम्यक्त्वादिषु ध्यानं न सम्यक् संविधास्यति"॥१॥

इत्यादि श्लोकों से मूर्च्छा ही को परिग्रह कहते हुए कपडे रखनेका निषेध नहीं करते हैं। बल्कि संयम रक्षार्थ एवं उपद्रव निवारणार्थ वस्त्रपात्रादि की अनुमति देते हैं। **ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्रजी** तथा **तत्त्वानुशासनमें अमृतचन्द्रसूरि** वगैरह दिगम्बर सूरि भी वस्त्र रखने का प्रगट उल्लेख कर गये हैं, बात भी सच्ची है, क्योंकि वह चौथे आरे का वक्त अब नहीं रहा, वह संहनन वह मनोबल वह धैर्य वह स्थिरता अब नहीं रही, इसीसे तो वर्त्तमान कलिजुगमें मोक्ष की प्राप्ति नहीं रही, अतएव यह बात सुसंभवित है कि मोक्ष रूपी फल नहीं रहनेसे उसको प्राप्त करानेवाली सामग्री—अविकल कारण भी वर्तमानमें नहीं है। संपूर्ण सामग्री रहते कार्यका उदय अवश्य होता है, और वर्त्तमानमें मोक्षरूपी कार्य (फल) नहीं है, इसलिये मोक्षसाधक पूर्ण साधन भी वर्तमानमें नहीं है, यह न्यायप्राप्त बात न्यायपक्षपातियोंको जरूर माननी पडेगी बस! मोक्षसाधक पूर्ण साधन नहीं रहनेसे चारित्र की पराकाष्ठा पर आरोहण होना असम्भव है, जितना संभव है उससे नीचे गिरनेवाले, पासत्थे कुशीलक कहे जाते हैं, इससे विचारक गण समझ सकते हैं कि वस्त्रादि रहित होनेका कठिन कष्ट नहीं उठानेवाले—कलियुगके महाव्रतधारी महात्मा साधुजन, समयानुसार बराबर साधु हैं। स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ये वास्तवमें तो दो रास्ते ही न्यारे हैं, जिनमेंसे वर्त्तमान कालमें सिर्फ स्थविर कल्प की मर्यादा रही है और जिनकल्पी आचार उच्छिन्न हुए, जो

पहले जमानेमें सेवाते थे, और सेवनेवालों को तद्भवमें हर्गिज मोक्ष नहीं मिलता था ।

नंगे हो कर व्यवहारमें रहना यह कितना बीभत्स? । वर्त्तमान जमानेमें तो नंगे हो कर नगरमें चलनेवालों को शिक्षादाता चपरासी बैठे ही हैं । परमात्मा तीर्थंकर देव तो अतिशय के प्रभाव से नग्न हुए भी नग्न रूपसे नहीं दिखाते थे, वैसा अतिशय वर्त्तमानमें हो तो कौन नग्न होने को तैयार नहीं हैं? । गिरिकन्दरा वननिकुंज में रह कर जो कुछ खाके जीवन चलाने के साथ आत्मसाधन करना हो, तो नग्न होनेकी कौन मनाही करता है? परंतु बतलाईए ! ऐसे वनवासी तपस्वी दिगम्बर मुनि कितने हुए ?; ऐसी हि कठिन वृत्तिसे तो भला ! कोई दिगम्बर मुनि नहीं होता, और जो होते हैं, वे फिर दुर्दशा से लपेटाते हैं, अतएव दिगम्बर समाजमें साधुओं का दुर्भिक्ष दिखाता है, बात भी सच्ची है कि पूर्व ऋषि-हाथीओंका अनुकरण वर्त्तमान कलियुग के टट्टु कैसे कर सकते हैं ! । अगर करने लगें तो मूलसे पतित हो जायँ, यह स्वाभाविक है, इसलिये समयानुसार नियमित उचित हदपर कयाम करना मेरी समझमें अच्छा मालूम पडता है । राजे की हवेली को देख अपनी कोठरी गिराना अच्छा नहीं । फर्ज करो कि वनवासी तपस्वी मुनि हो भी जायँ, मगर उनका व्यवहारमें प्रचार नहीं होनेसे-ग्राम-नगरादिमें सचार नहीं होनेसे तीर्थप्रवृत्ति तीर्थप्रभावना तीर्थरक्षा वगैरह कैसे बन सकेंगे? । पहले जमानेमें तो नग्न भी-अनग्न भगवानकी देशना त्रिलोकी को फायदामंद होती थी । अलावा तीर्थंकरोके स्थविर कल्पी भी मुनिगण बहुत थे,जिनकी तर्फसे तीर्थका प्रबल अभ्युदय होता रहता था ।

मगर वर्त्तमानमें (कलियुगमें) जिन कल्प की झंडी फरकाना सरासर जैन शासनको नीचे गिरानेका काम है। स्थविर कल्पी मुनि न होते तो वर्त्तमानमें जैन समाजमें त्रिनगुरुका कलंक नहीं हटता।

यह तत्त्व जितना स्फुट है, उतना ही बहुत वक्तव्यों से भरा है, मगर लेख गौरव न हो इसलिये इस विषय को संकोचता हुआ आखिरमें इतना ही कह देना समुचित समझता हूँ कि मध्यस्थ दिलसे इस वातका पुख्ता विचार करो, इसमें हमारा कोई दुरभिनिवेश नहीं है।

मूल सूत्रोंमें वस्त्रादिका रखना साफ वताया है, देखिए! भगवती का पाठ—

"समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइम साइमेणं वत्थ पडग्गह कंबल पायपुंछणेणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभे माणे विहरई"।

इस पाठ से वस्त्र कम्बल वगैरह का रखना साफ प्रकाशित होता है। सूत्र ही अगर माननीय न हों, तो क्या कहें?।

धर्मात्मा—महात्माओंको अन्न वस्त्र वगैरहका दान देना, न कि सोनें रूपयेका। साधर्मिक—सज्जन गृहस्थों को धनसे सहायता देना पुण्य कर्म है, मगर फकीर—साधुओं को फूटी पाईका भी दान नहीं देना, यह दान क्या है, अधर्म ही है। जिसके देनेसे क्रोध लोभ व कामका उद्रेक होता है, वह द्रव्य फकीरों को काविल दान देने के नहीं है। जिसका विदारण होने पर जन्तुओं के ढेर मरण के शरण हो जाते हैं, वह पृथ्वी भी दान देने के योग्य

नहीं है। जो जो हिंसक शस्त्र जिससे बनाये जाते हैं, उस लो-हेका दान दयालु शास्त्रकार पसंद नहीं करते। अर्धप्रसूता (मानो ! मर रही न हो) गाय को पर्व दिन रोज दान देने-वाला भी धार्मिक गिना जाता है, यह कैसी धर्म नीति ?। अशुचि चीजें खाने वाली और खुर से जीवों को हननेवाली-गायके भी दानको धर्म में शामिल माननेवाले कितने अक्लमंद होंगे ?। स्वर्णमय रूप्यमय तिलमय घृतमय गाय को हिस्सेसे बांट लेने वालों को देनेवाले दाता को न मालूम क्या फल होता होगा ?। कामासक्ति की कारण, बन्धुओं के स्नेह रूपी पेड के लिये दावानल समान, कलह की उत्पत्ति भूमी, दुर्गति के द्वार की कुंजी, मोक्षद्वार की अर्गला, और आफत पैदा करनेवाली-कन्या के दान को भी कल्याण के लिये फरमाते हुए आगम को धन्य है ?।

विवाह के वक्त दायजे का दान, जो धर्म बुद्धि से देते हैं, वह भी भस्म में घृतहोम के समान है। सक्रान्ति वगैरह दिनोंमें जो दान की प्रवृत्ति चला दी है, वह भी मुग्धों का ही काम है। मरे हुए की तृप्ति के लिये जो दान दिया जाता है, वह क्या है, मानो ! फल फूल की इच्छासे मुसल को पानी का सिंचन ही करना है। ब्राह्मणों को भोजन देने पर पितृलोग अगर तृप्त हो जाते होंतो एक मनुष्य के खानेपर दूसरा तृप्त क्यों न होगा ?। पुत्रका दिया दान यदि पितृलोगों के पाप का हननेवाला हो, जाता हो बतलाईए ! पुत्रका किया हुआ तप पितृओं को मुक्तिसे क्यों न भेजा देगा ?। **गंगा गया** वगैरह स्थलों पर दान देनेसे पितृजन यदि तैर जाते हों तो वहीं पानीका अभिषेक करनेसे अन्यत्र आगसे दग्ध हुए पेड क्यों न पुनरुज्जी-वित होंगे ?।

श्रोत्रिय को बैल बकरा वगैरह कल्पता हुआ दाता पुरुष, अपने और पात्र पुरुष को दुर्गतिमें गिराता है। धर्मबुद्धिसे अ-योग्य वस्तु को देता हुआ—दाता जितना पापलिप्त नहीं होता, उतना पापलिप्त दोष को जानता हुआ भी लेनेवाला पुरुष होता है। अपात्र जन्तुओं को हनकर पात्र को पोषते हुए मूर्खजन अनेक मेंढकों को हनकर सांप को क्यों नहीं पोषते ?।

आर्हतमत यह है कि सोना रूपया वगैरह का दान सं-यमी को नहीं देना, और अन्न आदिका दान मोक्ष—फलके लिये पात्र ही में देना।

उत्तमपात्र मध्यमपात्र जघन्यपात्र कुपात्र और अपात्र का पु-रुता निरीक्षण करके पात्र ही में दान योग्य चीज का वितरण करना चाहिए। उत्तम पात्र हैं—महाव्रत धारण करनेवाले पांच समि-तियों करके समित तीन गुप्तिओंसे गुप्त समतापरिणामी मोक्षाभि-लाषी जीवहितैषी महात्मा निःस्पृही मुनिलोग। मध्यमपात्र—शुद्ध श्रद्धालु व्रतधारी मुनिधर्माभिलाषी दयालु और न्यायसंपन्न गृहस्थ लोग हैं। जघन्यपात्र—शुद्ध श्रद्धालु शासन दीपक अव्र-ती महाशय हैं। ये तीन प्रकारके पात्र हुए, इनमें योग्य वस्तुका वितरण, तरतमभावसे अधिकाधिक फलदायक होता है। कुपात्र वे हैं, जो कुशास्त्रों के श्रवणसे वैरागी हो के साधु—तपस्वी हुए हों, और कन्दमूल फल वगैरहसे जीवन चलाते हों, वे कषाय कपडे पहिननेवाले अथवा नंगे रहनेवाले शिखा—जटा धारण करनेवाले मठमें वा जंगलमें रहनेवाले पांच अग्नियों को सहनेवाले शरीरपर भस्म—राख लगानेवाले स्वमति कल्पनासे धर्माचरण करने पर भी मिथ्यादर्शनसे दूषित बने हुए एकदंडी वा त्रिदंडी, बावा जोगी वगैरह कुतीर्थि लोग हैं।

हिंसा का सत्कार करनेवाले परिग्रह आरम्भमें मशगूल बने हुए कामासक्त असंतोषी मृषावादी धूर्त्त क्रोधी मांसभक्षी और कुशास्त्रीयविद्यामात्रसे पंडितमानी–गुरुमानी लोग **अपात्र** हैं पात्रके शुमारमें नहीं है। पूर्वोक्त मिथ्यादर्शनी बावालोग तो बुरे पात्र है–निन्दनीय पात्र हैं, मगर ये बुरे भी पात्र नहीं है, इसलिये अपात्र माने गये। इस प्रकार अपात्र कुपात्र का परिहार कर के विवेकी शाणे लोग पात्रदानमें प्रवर्त्तते हैं। दान मात्र सफल–फलवान् है। पात्रमें दिया दान धर्म फल को पैदा करता है और अपात्र कुपात्रमें दिया दान तरतमभावसे अधर्म का जन्मदाता है। साप को दूध पिलाना जैसे विष की वृद्धिके लिये होता है, वैसे अपात्र कुपात्र को दान देना, संसार वृद्धिके लिये होता है। जैसे कडुवी तुम्बीमें डाला हुआ स्वादिष्ट दूध खराब होजाता है, वैसे शुद्ध भी दान अपात्र–कुपात्रमें पडनेसे दूषित होता है। अपात्र कुपात्रको दी हुई पृथ्वी भी फलके लिये नहीं होती, किंतु पात्रमें दिया हुआ ग्रास (लुकमा) भी बडे फल के लिये होता है।

पात्रापात्रका विचार मोक्ष संबधी दानके विषयमें किया जाता है, मगर अनुकम्पादान–दयादान तो कहीं निषिद्ध नहीं है। पात्र हो या कुपात्र हो सबकी क्लेशदशा–दुःखावस्था पर दयालु होना चाहिए। दुःखके प्रतीकारार्थ यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। पापी हो या धर्मी हो दुश्मन हो या मित्र हो सबपर दयादान करना। दुःख सबको प्रतिकूल है, इसलिये दुःखसे छुडवाना, पिपासु (प्यासे) को पानी पाना मरते हुए को रोटी देना ऐसा दयादान धर्ममें शामिल है। जिन्हें दुःखी को देख दया न आई उसको बेधडक पत्थर जैसे कठिन दिलका कहना चाहिए। वह धर्मकी हद पर अभी नहीं पहुँचा, जो दुःखी के दुः-

खका प्रतीकार नहीं करता हुआ अपनेही पेटकी पूजा करनेमें मशगूल रहता है।

" दानेन भोगानाप्नोति "–दान से भोग मिलते हैं ' ऐसा कहना विनाविचार का है क्योंकि अनर्घ्यपात्र दान का क्षुद्र भोग क्या फल है?। पात्रदान का मुख्य फल है–मोक्ष, जैसे कृपिका धान्य। और भोग, प्रासंगिक फल है, जैसे कृपिका घास।

अहीरके लडके दरिद्र संगम ने भीख मांग के पैदा की हुई क्षीर को सुपात्रमें दे के वह पुण्य उपार्जन किया, जिसके जरिए वह सुभद्रशेठ के घरपर जन्म ले के वहां पर स्वर्गसे उतरती हुई स्वर्गीय भोग सामग्री के अद्भुत आनन्द भोगने को सौभाग्यशाली हुआ, जिसका नाम शालिभद्र कथानुयोगमें मशहूर है। ऐसा पात्रदान का अद्भुत प्रभाव देख पात्रदानमें कंजूसी नहीं रखना। दिलके दलेर हो के द्रव्य का सदुपयोग करना, यही धनियों के लिये धर्म का सुगम रास्ता है। दरिद्र मनुष्य भी रोटी से पात्रदान का सौभाग्य बराबर प्राप्त कर सकते हैं। दो रोटी में से आधी भी रोटी पात्रमें दे के दरिद्र लोग अपना दारिद्र्य बखूबी रफा कर सकते हैं। धन्य है पुनिया श्रावक को, जिसका हाल पहले बता चूके हैं। तब ही तो कल्याण होता है और मनुष्य तकदीरवर–खुशकिस्मत होता है। परमार्थ काम किये सिवाय किसी हालतमें स्वार्थसिद्धि नहीं हो सकती। मरना एक ही वार है मगर " पेट भरा भंडार भरा " कभी नहीं होना चाहिए। अपना पेट तो कुत्ते गदहे तक भी भर लेते हैं मगर दूसरे की भलाई करना यही मानव जीवन का प्रगट तत्त्व है। इस भयंकर भवदावानल में पाप अग्नि से जलते हुए

प्राणिओं को धर्म ही शान्तिदाता है । अपार भीषण भव जगलमें सहारा देनेवाला चौकीदार धर्म ही है । वदौलत धर्मकी दौलत प्राप्त होने पर भोगासक्त होना–विषयानन्दमें मग्न रहना और धर्मकी थोडी सी भी सम्हाल न लेना यह कैसी और कितनी क्षुद्र वृत्ति ? । विषयों के अनन्य अनुचर बने हुए प्राणी ऐसा। एक दिन जरूर पायेंगे कि उन्हें विषयभोग छोडना होगा जब यही बात है तो फिर यही चाहिये कि विषय अपने को थप्पड दे के न जायें, किन्तु अपने ही विषयों को तिरस्कार कर छोड दें । यह खयाल रक्खो कि—

" अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ? ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्याद् अतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शिवसुखमनन्तं विदधति"॥१॥

अर्थः—

विषय चिरकाल तक भोगे हुए भी एक दिन अवश्य चले जायेंगे, तो फिर मनुष्य ही उन्हें क्यों नहीं छोड देता–विषयों से तिरस्कृत होने के पहले ही उन्हें क्यों नहीं हटा देता ? । जब कि विषयों के तिरस्कार से या हमारे तिरस्कार से विषयों का व हमारा वियोग होनेवाला है ही है–दोनों में से एक प्रकार से हमारा व विषयों का वियोग होना सिद्ध ही है तो फिर विषयों को हम ही क्यों न छोड दें ? । विषयों की तर्फसे वियोग होने के पहले ही हमारी तर्फ से विषयों का वियोग होना चाहिए–विषय हट जाने चाहिएँ। फर्क अगर यह मालूम पडता हो कि " जहांतक विषय सामग्री मौजूद है, वहांतक विषयानन्द क्यों न भोगें ?, वि-

पयानन्द का लाभ अपने हाथ से क्यों खो दें । जहांतक विषय सामग्री की मौजूदी होगी, वहांतक चांदी काटेंगे (मौज उडावेंगे) । जब विषयसामग्री चली जायगी, तब देख लेंगे, मगर याद रहे कि विषयों की तर्फ से उनका व हमारा वियोग होना सरासर दुःखों का जन्मदाता है, और हमारी तर्फसे विषयों का वियोग होना निरतिशय—परमानन्दका संपादक है । यह बडा भारी वैलक्षण्य, दोनों वियोगोंमें जिनके ध्यानमें पुख्ता प्रतीत हुआ है, वे धर्मात्मा महाशय पुरुष विषयों के आधीन नहीं रहते । किन्तु विषयों से छुट्टी पाने के समर्थ होने से धर्म की मौज उठाया करते हैं, और अपनी आत्मा का परमार्थ अच्छा साधते चल जाते हैं । सज्जनो ! विषयोंमें ममता हटाकर समता देवीका शरण लेना चाहिए । समता ममता से पूर्ण विरोधवंती है । ममता का पल्ला जहांतक पकडे रहोगे, वहांतक समता देवी का दर्शन आकाश में रहा समझो । समता ममतारूपी सांपनीका जांगुली मंत्र है । समता शब्द को भी विपरीतरूपमें रखनेसे तामस का दर्शन होता हैं तो भला ! समता वस्तु से विपरीत होना क्योंकर तामसवृत्ति का उत्तेजक न होगा ? । अतः विषयों से मूर्च्छित न हो के समता भाव—संतोष परिणति में मग्न होना यही श्रेयसाधक है, तब ही अतिथि संविभाग व्रत को पूर्ण उत्तेजन मिलेगा, और संत महांतों की चरण सेवासे परमपद हासिल होगा ।

पूरा हुआ बारहवाँ व्रत अतिथि संविभाग ।

इति श्रावकधर्म—द्वादशव्रतनिवेदनम् ।

ये बारह व्रत बता दिये, इन्हें पालना गृहस्थ लोगोंका अव्वल फर्ज है । इन व्रतोंका मूल—समकीत है, सिवाय सम्यक-

त्वके कोई भी व्रत, कष्ट, तपश्चर्या, मोक्षके साधक नहीं हैं, इस लिये सम्यकत्व पहेले हासिल करना चाहिये।

सम्यकत्व शुद्ध श्रद्धाका नाम है। शुद्ध श्रद्धा किसकी? जिस विषयका विपरीत भान, संसार वर्धक है, उस विषयकी यथार्थ श्रद्धा-समकीत कही जाती है, वह विषय कौन? देव गुरु और धर्म।

सुदेव—

सुदेव यानी सच्चा देव, अर्थात् परमेश्वर। परमेश्वरके विषयमें बहुतोंकी भिन्न भिन्न राय है, मगर तत्त्वदृष्टिसे सोचनेपर यही स्फुरण होता है कि—

"सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः" ॥१॥

अर्थ—

सर्वज्ञ (समस्त पदार्थोंको-भूतकाल, वर्त्तमानकाळ और भष्यिकाळ, इन तीनों काळकी-सुक्ष्म, बडी, दूर, नजदीक, व्यवहित, प्रगट, तमाम-सकल लोक अलोककी चीजें जानने वाला, और राग, द्वेष, मोह वगैरह दूषणोंसे बिल्कुल मुक्त हुआ, तीनों जगत्से पूजित, और यथार्थ उपदेशक-सद्भूत तत्त्वज्ञानका प्रकाशक ईश्वर कहाता है, भले ही पीछे उसका दूसरे नामोंसे व्यवहार हो, मगर ईश्वर वस्तु, ऐसी ही होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। ईश्वरके नाम—

"अर्हन् जिनः पारगतस्त्रिकालवित्
क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः ।
शम्भुः स्वयम्भुर्भगवान् जगत्प्रभु-
स्तीर्थंकरस्तीर्थकरो जिनेश्वरः" ॥१॥

अर्थः—

अर्हन्, जिन, पारगत, त्रिकालज्ञ, क्षीणाष्टकर्म, परमेष्ठी, अधीश्वर, शम्भु, स्वयम्भु, भगवान्, जगत्प्रभु, तीर्थंकर, तीर्थकर, जिनेश्वर, स्याद्वादी, वीतराग, पुरुषोत्तम, विश्वनाथ, सर्वज्ञ, देवाधिदेव वगैरह नाम ईश्वरके हैं। नामके स्मरणद्वारा और मूर्तिके पूजनद्वारा ईश्वरकी भक्ति होती है। जो लोग मूर्तिपूजाको पसंद नहीं करते—मूर्तिपूजामें गुणप्राप्ति नहीं मानते, उनकी वडी भारी भूलहै, वह भूल दूसरे ग्रन्थोंसे देख लेना, यहां इसका जिक्र नहीं करते। उक्त लक्षणके ईश्वरकी उपासनामें पावंद रहना, और विपरीत लक्षणके किसीको ईश्वर न समझना यह देवविषय श्रद्धा कही जाती है।

सुगुरु—

देवतत्त्वका प्रकाश करनेवाले गुरु हैं। धर्मकी पहचान करानेवाले गुरु हैं। संसारके क्लेश हटानेका उपाय बतानेवाले गुरु हैं। मगर गुरुकी तलाश करनी चाहिए। अच्छे—शुद्ध गुरुहीसे आत्मकल्याणका संपादन हो सकता है।

गुरुके लक्षण ये हैं—

"महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः" ॥१॥

पांच महाव्रतोंको पालनेवाले धीरजवाले भिक्षासे जीवन चलानेवाले समताभावमें रहनेवाले और धर्मोपदेश देनेवाले—शुद्ध धर्मकी प्ररूपणा करनेवाले गुरु है। ऐसे ही गुरु स्वयं संसार सागरसे तरते हुए औरोंको भी तैरानेमें समर्थ होते हैं। भाग गाजा फूंकनेवाले द्रव्य रखनेवाले रेल इक्का गाडी घोडा वगैरह वाहनपर सवारी करनेवाले कषायोंसे भरे हुवे लोग गुरु नहीं हो सकते। पूर्वोक्त—गुरुके लक्षणोंसें विपरीत ढगवाले गुरु नहीं हैं, किंतु साधु वेप के झूठे आडम्बर से लदे हुए होने से कुगुरु कहे जाते हैं, इनको गुरु नहीं समझना और उक्त लक्षणलक्षित सद्गुरुकी सेवा करना, यह गुरुतत्त्वविषयक श्रद्धा है।

सुधर्म—

परमात्मा अर्हन् देव का बताया हुआ वीतरागधर्म धर्म है। उसी पर धर्मबुद्धि रखना उसीको यथाशक्ति पालना और असर्वज्ञ कथित दोषयुक्त धर्मोंको न मानना, यह धर्म विषयक श्रद्धा है।

देव गुरु धर्म इन तीन तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिये। मिथ्यात्वियोंके झूठे प्रभावोंको देख वीतराग धर्म पर रत्ती भर भी आशंका अरुचि नहीं लानी चाहिए, तब ही सम्यक्त्वका स्पर्श होगा। सम्यक्त्व के सौभाग्य रहित तपस्वि लोगों के कष्टानुष्ठान जो फल नहीं दे सकते, वह फल सम्यक्त्वधारी गृहस्थोंको मिल जाता है, इस लिये देवमें देव बुद्धि, गुरुमें गुरु और धर्ममें धर्म बुद्धि रखना। अदेवमें देव बुद्धि, देवमें

अदेव बुद्धि, अगुरुमें गुरु बुद्धि, गुरुमें अगुरु बुद्धि, अधर्ममें धर्म बुद्धि और धर्ममें अधर्म बुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

इस विषय का जितना विवेचन किया जाय उतना थोडा है। मगर यह पुस्तक मोटी न हो जाय इस लिये गम्भीर विषय को भी दोही अक्षरों में पर्याप्त करना पडा है और इसीलिये—जगत्कर्तृत्व वगैरह विषयों के कुछ विशेष निवेदन करने को—पहले कह चुका हुआ भी आगे नहीं वढा हूँ। मौका मिला तो आगे देखा जायगा। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१८	लैती	लेती
५	१८	लाते	लाती
७	९	समक्त	समक्ष
९	२	विलक्षणे	विलक्षण
"	६	नु रुप	नुरूप
"	१७	क्षणमें	क्षण के अन्त में
११	२१	रुपियों	ऋपियों
१८	९	सप-	संपत्ति
२३	१८	च्छि	च्छ्रि
२३	१६	पितृ	पितृ
२३	१७	नान्दत्रे	नान्यत्रे
३६	१	दर्शनम	दर्शनमें
"	२३	रूपकी चड	रूपकीचड
४२	३	आत्मामें और	आत्मा और
५३	२४	हठ	हट
५४	२३	आवश्यक्ता	आवश्यकता
७६	२३	भुठा	झुठा
८९	१९	न्यायकुसुमाञ्जलिमें	०
१२१	१८	धूमा	घूमा
१३१	११	रिपसे	जरियेसे

"	१४	लीये	लिये
१३४	१३	कर्म	कम
१४१	१	जना	जैनी
१४४	७	वायव्य इन	वायव्य तथा उपर व नीचे इन
१४६	२१	वजता	वनता
१५१	१५	इन्में	इसमें
१५२	१	वात	वात
१७७	२३	स्वांति	स्वाति
१७८	२२	"वास्तवमें तो" यह पद "स्थविर कल्पी" इसके पहले रख के पढें.	
१८१	२१	हो	हो तो
१८५	५	ऐसा। ऐक	ऐसा ऐक
१८६	११	चल	चले
१८७	२	सम्यकत्व	सम्यक्त्व
"	"	पहेले	पहिले
"	१५	भष्यि	भविष्य

हमारी लायब्रेरी संवन्धी निवेदन

पाठकों को विदित ही होगा कि लक्ष्मीचन्द्रजैनलायब्रेरी को स्थापित हुए आज करीब तीन वर्ष हुए हैं। थोडे अर्से की जन्मी हुई इस लायब्रेरी ने अपने कर्त्तव्यों को किसकदर पालन किया है यह उसके कामों से स्पष्ट ही प्रतीत होता है।

इस पुस्तकालय में गुजराती हिन्दी उर्दू फारसी इंग्लीश संस्कृत भाषा की हजारों पुस्तकें मौजूद हैं। और प्रतिदिन बढती भी जा रही हैं। अलावा इनके हिन्दी गुजराती बङ्गाली इंग्लीश वगैरह भाषाओंके प्रसिद्ध प्रसिद्ध मासिक पाक्षिक साप्ताहिक दैनिक अखबार भी बहुत से आया करते हैं। मगर यह तो प्रसिद्ध ही बात है कि बालक का जीवन जैसे माता पिता वगैरह के सुकोमल करकमल युगल से आनन्दपूर्वक बढता जाता है—उदयश्रेणीपर आरोहण करता है, वैसे ही पूर्वोक्त छोटी उम्रवाली पुस्तकालय पर सज्जनमहाशयों का हस्तावलम्बन होना बहुत अपेक्षित है और अवश्य होना चाहिए तब ही इस लायब्रेरी की उदयकिरणें सर्वत्र अस्खलित फैल सकेंगी।

प्रत्येक जैनबन्धु का फर्ज है कि इस पुस्तकालय को उदय करने की चिन्ता में स्थापित रक्खे। निःस्वार्थी इस पुस्तकालय का परम स्वार्थ यही है कि समाजमें वांचन का शौक बढाना, प्रजाको विद्यास्वाद के व्यसनी बनाना और परम सत्य सनातन निश्चल तत्त्व का प्रचार करना, बस! यही उद्देश यही स्वार्थ और यही मतलब शासन देव पूरा करें यही अन्तःकरण से चाहता हू।

लेखक—

श्रीलक्ष्मीचन्द्र जैनलायब्रेरी बेलणगंज—आगरा { लक्ष्मीपुत्र फूलचंदजी वेद